हिन्दी
त्रैमासिक

विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स / विधा / टा / ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण–विवेकानन्द–भावधारा से अनुप्राणित

जुलाई - अगस्त - सितम्बर १९६९

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक • स्वामी प्रणवानन्द
सह-सम्पादक • सन्तोषकुमार झा

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द
(ग्रीन एकर, अमेरिका में सन् १८९४)

मुद्रक : नव भारत प्रिंटर्स, रायपुर.

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ७]   जुलाई - अगस्त - सितम्बर   [अंक ३

वार्षिक शुल्क ४)   ❀ १९६९ ❀   एक प्रति का १)

आत्मदर्शन के साधन

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषः ॥

— जिस आत्मा को क्षीण दोष (निष्पाप) योगीजन देखते हैं, वह ज्योतिर्मय और शुभ्र है तथा शरीर के भीतर रहता है। उस आत्मा को सत्य, तप, सम्यक ज्ञान और ब्रह्मचर्य के नित्य पालन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

— मुण्डकोपनिषद्, ३।१।५

•

तां तृष्णां त्यजतः सुखम्

किसी गाँव में एक नाई रहता था। वह एक दिन दूसरे गाँव को जा रहा था। रास्ते में भूतबाधा वाला एक पेड़ पड़ता था। जब नाई उस पेड़ के नीचे से होकर गुजरा तो उसे एक आवाज सुनाई दी, "क्या तुम सोने से भरे सात घड़े स्वीकार करोगे ?" नाई ने चारों ओर देखा पर कोई दिखाई नहीं दिया। तथापि सात घड़े सोने की बात ने उसके मन में लालच को जगा दिया। वह जोरों से चिल्लाकर बोला, "हाँ-हाँ, हम सातों घड़े स्वीकार करेंगे।" तुरन्त उत्तर सुनाई पड़ा, "घर चले जाओ, मैं घड़ों को तुम्हारे घर पहुँचा आया हूँ।"

नाई इस विचित्र बात की सत्यता को परखने उतावला होकर घर की ओर दौड़ पड़ा। जैसे ही वह घर में घुसा, उसने अपने सामने सात घड़े रखे हुए देखे। उसने घड़ोंका मुँह खोल-खोलकर देखा। छः घड़े तो स्वर्ण से पूरे भरे हुए थे, पर आखिरी घड़ा आधा भरा था! नाई आनन्द के मारे पागल के समान नाचने लगा। पर दूसरे ही क्षण उसके मन में विचार कौंधा कि यदि सातवाँ घड़ा भी सोने से पूरा भरा होता तो कितना अच्छा होता! उसके मन में उस घड़े को भी पूरा भर देने की तीव्र इच्छा जागी, क्योंकि वह महसूस

करने लगा कि जब तक सातवाँ घड़ा भी सोने से पूरा न भर जायगा, वह सुखी नहीं होगा। इसलिए उसने अपने घर के सारे गहनों को सोने के सिक्कों में बदल लिया और उस घड़े में डाल दिया। पर वह विचित्र घड़ा ज्यों का त्यों ही आधा खाली बना रहा। नाई को बात कुछ समझ न आयी, पर तो भी उसकी आँखे न खुलीं। अब तो उसने अपने घर के सारे खर्चों में कटौती कर डाली, परिवार के लोगों को एक प्रकार से भूखा ही रखने लगा और इस तरह कुछ और बचत करके घड़े को भरने की कोशिश की। पर आश्चर्य ! घड़ा वैसा ही खाली बना रहा।

एक दिन नाई ने विचार किया कि राजा से कहकर अपना वेतन बढ़वा लूँ। वह राजा के पास गया और विनम्र स्वर से बोला, "महाराज ! सेवक का अपराध क्षमा करें। आजकल घर का खर्च कुछ बढ़ गया है। अगर कृपा हो तो कुछ वेतन बढ़ाने का हुक्म कर दें।" नाई राजा का स्नेहपात्र था। उसकी बात सुनते ही राजा ने उसका वेतन दुगुना कर दिया। नाई ने यह सारा वेतन बचत खाते में डाला और उसे सोने की अशर्फ़ियाँ बनाकर घड़े में डाल दिया। पर उस लालची घड़े का पेट ज्यों का त्यों खाली रहा। नाई परेशान हो गया। अन्त में उसने घर-घर भीख माँगकर परिवार को पालना शुरू कर दिया और वेतन की सारी कमाई तथा भीख की कमाई सबको उस घड़े में डालता

रहा। पर घड़े का अतृप्त गह्वर उसी प्रकार खाली का खाली ही बना रहा।

महीनों बीत गयें। कंजूस और लोभी नाई की दशा दिन पर दिन बिगड़ती चली गयी। उसकी ऐसी दीन अवस्था देखकर एक दिन राजा ने उससे पूछा, "कहो, यह क्या हाल है तुम्हारा? जब तुम आज के वेतन का आधा पाते थे तब तो बड़े सुखी थे, प्रसन्नचित्त और सन्तुष्ट थे। पर आज दुगुना वेतन पाकर भी दुःखी, चिन्ताग्रस्त और हताश दीखते हो। कहीं तुम्हें 'सात घड़े' तो नहीं मिल गये?" सात घड़े की बात सुनकर नाई एकदम अकचका गया और बोला, "महाराज! यह बात आपको किसने बतायी?" राजा हँसते हुए बोले, "यह तो तुम्हारे चेहरे से साफ़ जाहिर है। यक्ष जिसको वह सात घड़े देता है, उसकी हालत ऐसी हो जाती है। उसने मुझे भी वह घड़े देना चाहा था। पर जब मैंने उससे पूछा कि वह खर्च करने के लिए दे रहा रहा है या जमा करने के लिए, तो बिना इसका उत्तर दिये वह तुरन्त भाग गया। क्या तुम नहीं जानते कि यक्ष के इस धन को कोई खर्च नहीं कर सकता? वह केवल संचय की कामना जगाता है। जाओ, तुरन्त जाओ और उसका धन उसे वापस कर दो।"

अब नाई की आँखें खुलीं। वह उस भुतहा पेड़ के पास गया और जोरों से चिल्लाकर बोला, "ऐ यक्ष! अपना सोना तुम वापस ले लो।" यक्ष का उत्तर आया,

"ठीक है।" जब नाई घर लौटा तो उसने देखा कि वे सातों घड़े जिस रहस्यमय ढंग से आये थे, उसी रहस्यमय ढंग से गायब हो गये हैं और अपने साथ उसके जीवन की सारी कमाई भी लेते गये हैं।

तृष्णा ऐसी ही बला है। तृष्णा मनुष्य को उसके वैभव का भोग नहीं करने देती। सब कुछ होते हुए भी तृष्णा की चपेट आकर लोग हरदम हाय-हाय किया करते हैं। तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। ऐसी तृष्णा के त्याग में ही सुख है।

●

"अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दोष-शता-वहा।
अधर्म-वहुला चैव स्तस्मात्तां परिवर्जयेत ॥"

तृष्णा का कहीं ओर-छोर नहीं है। उसका पेट भरना कठिन होता है। वह सैकड़ों दोषों को ढोये फिरती है उसके द्वारा बहुत से अधर्म होते हैं। अतः तृष्णा का परित्याग करना चाहिये।

—वेदव्यास

तृष्णा चतुर को भी अन्धा बना देती है।

—सादी

तृष्णा वैतरणी नदी है—तृष्णा के समान दूसरी कोई व्याधि नहीं है।

—चाणक्य

लक्ष्य

स्वामी विवेकानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामीजी द्वारा २७ मार्च १९०० ई. को सैन फ्रांसिस्को, अमेरिका में दिया गया था। यह पहली बार 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' नामक अंग्रेजी पत्रिका में प्रकाशित हुआ, जहाँ से यह समाचार लिया गया है। चूँकि स्वामीजी के पूरे शब्द यथावत् लिपिबद्ध नहीं हो पाये हैं इसलिए कहीं कहीं उनके यथार्थ मर्म को पकड़ पाना कुछ कठिन हो गया है, तथापि स्वामीजी की ऊँची मनोदशा इसमें दर्शनीय है। लगता है, जैसे स्वामीजी समस्त सीमितता को पार कर ऊपर उठ चुके हैं। इसलिए उनकी वाणी में सम्मोहन है, और है अद्भुत प्रेरणाशक्ति। – सं०)

मनुष्य मानो हर समय अपने से किसी बड़ी चीज से घिरा रहता है और वह उसे समझने का प्रयत्न करता रहता है। वह सदैव उच्चतम आदर्श को ही पाने की कोशिश करता है। वह जानता है कि ऐसा आदर्श विद्यमान है और धर्म इसी उच्चतम आदर्श की खोज है। पहले तो मानव ने इस आदर्श को अपने से बाहर खोजा-- स्वर्ग और अन्य लोकों में उसकी खोज की। बाद में उसने अपनी ओर कुछ अधिक सूक्ष्मता से देखा और तब उसे पता चला कि अब तक जिसे वह 'मैं' समझता आ रहा है, वह वास्तविक 'मैं' नहीं है; वह असल में वैसा नहीं है जैसा कि वह इन्द्रियों के द्वारा प्रतीत होता है तब उसने अपने भीतर खोज शुरू कर

दी और जाना कि जिस आदर्श को वह अव तक अपने से बाहर खोज रहा था, वह तो हर समय उसके अपने भीतर विद्यमान है; जिसकी वह अव तक अपने से बाहर पूजा कर रहा था, वह उसी का अपना प्रकृत स्वरूप है। द्वैत और अद्वैत में अन्तर यह है कि जब आदर्श को अपने से वाहर खोजा जाता है तव वह द्वैतवाद है, और जव ईश्वर अपने भीतर खोजा जाता है तो वह अद्वैत-वाद है।

वही प्राचीन प्रश्न हमारे सामने आता है कि क्यों और कहाँ से यह सृष्टि हुई ? मनुष्य सीमित कैसे हो गया ? असीम किस कारण से सीमावद्ध हो गया ? विशुद्ध अशुद्ध कैसे हो गया ? यहाँ हमें यह न भूलना चाहिए कि किसी द्वैतमूलक सिद्धान्त के द्वारा इस प्रश्न का उत्तर कभी भी नहीं दिया जा सकता।

ईश्वर ने यह अशुद्ध विश्व क्योंकर उपजाया ? जव एक पूर्ण, असीम और दयावान् परमपिता ने मनुष्य को वनाया है तो वह इतना दुःखी क्यों है ? यह पृथ्वी और आकाश जिनकी ओर देखकर हम नियम की धारणा करते हैं आखिर क्यों वने ? कोई भी व्यक्ति उसकी कल्पना नहीं कर सकता जिसे उसने न देखा हो।

इस जीवन में हम जो कुछ कष्ट सहते हैं, उस सवको हम एक दूसरे स्थान में रख देते हैं और वही हमारी नर्क की कल्पना है।

प्रश्न तो यह है कि उस असीम ईश्वर ने यह संसार

क्यों बनाया ? द्वैतवादी कहता है कि जैसे कुम्हार घड़े बनाता है, उसी प्रकार ईश्वर भी मानो एक कुम्हार हैं और हम सब घड़े। यदि इसी प्रश्न को दार्शनिक रूप दिया जाय, तो वह कुछ ऐसा होगा-- यह कैसे मान लिया गया है कि मनुष्य का यथार्थ स्वभाव पवित्र है, पूर्ण और अनन्त है ? किसी भी अद्वैतवाद की यही एक कठिनाई है; शेष सब तो स्पष्ट और साफ है, पर इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। अद्वैतवादी केवल इतना कहेगा कि यह प्रश्न ही स्व-विरोधी है।

इस प्रश्न को कि ईश्वर ने संसार को क्यों बनाया, हम द्वैतवादी की दृष्टि से देखें। तब भी हमें यही उत्तर मिलेगा कि प्रश्न अपने आपमें विरोधी है। क्यों ? इसलिए कि द्वैतवाद की दृष्टि से ईश्वर की धारणा यह है कि वह एक ऐसा तत्त्व है जिस पर बाहर की किसी भी वस्तु का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

तुम मुक्त नहीं हो, मैं मुक्त नहीं हूँ। मुझे प्यास लगती है। प्यास नाम की एक चीज है जिस पर मेरा नियंत्रण नहीं और वह मुझे पानी पीने को बाध्य कर देती है। मेरे शरीर की प्रत्येक क्रिया, यहाँ तक कि मेरे शरीर का हर स्पन्दन मुझमें जबरदस्ती उठाया जाता है। मैं वैसा किये बिना रह नहीं सकता। इसी-लिए मैं बँधा हुआ हूँ। मुझे बलात् क्रिया करनी पड़ती है, बलात् मुझे ग्रहण करना पड़ता है, आदि आदि। फिर, 'क्यों' और 'कहाँ से' का क्या मतलब ? तुम

जल क्यों पीते हो? इसलिए कि प्यास तुमसे वैसा कराती है। तुम उसके गुलाम हो। तुम अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर पाते, क्योंकि हर क्रिया तुम पर जबर-दस्ती थोपी जाती है। कार्य के पीछे तुम्हारा उद्देश्य कोई भिन्न शक्ति ही होती है।...

पृथ्वी को यदि कोई शक्ति न घुमाये, तो वह अपने आप न घूमेगी। दीप क्यों जलता है? जब तक कोई आकर माचिस न जलाये तो दीप न जलता। प्रकृति में सर्वत्र सभी चीजें बद्ध हैं। गुलामी केवल गुलामी! प्रकृति से समरस होना माने गुलामी। प्रकृति का गुलाम वनकर सोने के पिंजड़े में रहने से क्या लाभ? सबसे बड़ा विधान और सुश्रृंखलता तो इस बात में है कि मनुष्य स्वरूपतः मुक्त और दिव्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'क्यों' और 'कहाँ से' के प्रश्न केवल अज्ञान की स्थिति में ही पूछे जा सकते हैं। मैं तभी कुछ करता हूँ जब मुझसे भिन्न कोई वस्तु मुझ पर जबरदस्ती करती है।

एक ओर तो तुम कहते हो कि ईश्वर मुक्त है, सर्वतंत्र-स्वतंत्र है और दूसरी ओर पूछते हो कि ईश्वर संसार की सृष्टि क्यों करता है। तुम अपनी ही बात को काटते हो। ईश्वर का मतलब है पूर्ण इच्छा-स्वातंत्र्य। यदि प्रश्न को तार्किक रूप से रखा जाय, तो वह होगा-- 'उस पर संसार को बनाने के लिए किसने जबरदस्ती की, जिस पर किसी का भी जोर नहीं

चलता'? फिर उसी साँस में यह भी पूछते हो कि उस पर जवरदस्ती किसने की ? अतएव यह प्रश्न ही अर्थहीन है। ईश्वर स्वरूपतः असीम और अनन्त है, वह मुक्त है। हम तो प्रश्नों का उत्तर तभी देंगे जव तुम युक्तिपूर्ण भाषा में उन प्रश्नों को रखोगे। युक्ति तुम्हें वतलायेगी कि सत्ता केवल एक ही है और उसे छोड़ कुछ भी नहीं है। जहाँ भी द्वैतवाद उठा है, अद्वैतवाद वहीं सिर ऊँचा करके आया और द्वैतवाद को उसने खदेड़ दिया।

इसको समझने में केवल एक कठिनाई है। धर्म तो सर्वसुलभ वात है। यदि तुम धर्म को दार्शनिक भाषा में न रख, सर्वसाधारण की भाषा में रखो, तो एक साधारण व्यक्ति भी उसे समझ लेगा। मनुष्य का स्वभाव है अपने आपको आरोपित करना। जब तुम वच्चे से प्यार करते हो तो क्या करते हो ? अपने आपको वच्चे पर आरोपित कर देते हो, यानी उससे एक रूप अनुभव करते हो। मानो तुम्हारे ही दो शरीर हो जाते हैं। इसी प्रकार जब पत्नी अपने पति से प्यार करती है तो वह पति से तादात्म्य अनुभव करती है। इस तर्क को यदि वढ़ाओ तो इसकी सीमा कहाँ है ? तुम तो अनन्त देशों के साथ तादात्म्य अनुभव कर सकते हो।

मनुष्य रोज प्रकृति को जीत रहा है। एक जाति के रूप में, मनुष्य शक्ति की अभिव्यक्ति कर रहा है। कल्पना में मनुष्य की इस शक्ति को सीमावद्ध करने

की कोशिश करो। (नहीं कर पाओगे।) तुम मानते हो कि मानव जाति के पास असीम शक्ति है, उसका शरीर अनन्त है। प्रश्न यह है कि तुम क्या हो ? तुम मानव-जाति हो, अथवा एक व्यक्ति ? ज्योंही तुम अपने आपको एक व्यक्ति मानते हो कि दुनिया की सारी चीजें तुम्हें चोट पहुँचाती है। पर जब तुम अपना विस्तार करते हो और दूसरों के लिए अनुभव करते हो, तो तुम्हें मदद मिलती है। स्वार्थी व्यक्ति दुनिया का सबसे शोचनीय प्राणी है। जो निःस्वार्थी है, उसके समान सुखी और कोई नहीं। निःस्वार्थी व्यक्ति समूची सृष्टि से तादात्म्य लाभ कर लेता है, वह सम्पूर्ण मानव-जाति से एकरूप हो जाता है और ईश्वर उसके भीतर प्रकट हो जाते हैं। अतः हिन्दू, ईसाई और सभी धर्मों के द्वैतवादी नैतिक उपदेश करते हुए कहते हैं कि स्वार्थी मत बनो, निःस्वार्थी होओ; दूसरों के लिए कुछ करो; अपने को फैलाओ !

अज्ञानी को यह बात सरलतापूर्वक समझायी जा सकती है, और जो विद्वान् हैं वे तो और भी सरलता से इसे समझ ले सकते हैं। पर जिसमें पाण्डित्य का दिखावा है, उसे तो साक्षात् ब्रह्मा भी यह बात नहीं समझा सकते। सत्य यह है कि तुम इस विश्व से भिन्न नहीं हो, जैसे कि तुम्हारी आत्मा दूसरे की आत्मा से भिन्न नहीं है। यदि ऐसा न होता, तो तुम कुछ भी देख न पाते, कुछ भी अनुभव न कर पाते। हमारे शरीर जड़पदार्थ के

समुद्र में छोटी छोटी भँवरे हैं। जीवन एक पलटा खाता है और बीत जाता है, फिर एक दूसरा रूप धारण करता है। सूरज, चाँद, सितारे, तुम और मैं मात्र भँवरें हैं। मैंने एक विशेष मन को अपने लिए क्यों चुना ? वह मन के समुद्र में एक मानसिक भँवर मात्र है।

यदि ऐसा न होता तो यह सम्भव कैसे होता कि मेरे स्पन्दन अभी तुम्हारे पास तक पहुँच पाते ? यदि तुम झील में एक पत्थर फेंको तो वह एक स्पन्दन उठा देता है और उससे सारे जल में हलचल पैदा हो जाती है। मैं अपने मन को आनन्द की अवस्था में डालता हूँ और इससे तुम्हारे भी मन में उसी आनन्द को उठाने की प्रवृत्ति काम करने लगती है। तुम लोगों ने वहुधा यह अनुभव किया होगा कि तुमने मन में एक बात सोची या हृदय में किसी का विचार किया तो बिना बताये वह दूसरे को मालूम हो गया। असल में हम सर्वत्र एक हैं। यह बात हम नहीं समझते। सारा विश्व देश, काल और निमित्त के तानों-बानों से बुना है। वह ईश्वर ही इस विश्व के रूप में भासता है। यह प्रकृति कब से शुरू हुई ? तब से, जब तुम अपने यथार्थ स्वरूप को भूल गये और देश, काल एवं निमित्त द्वारा बँध गये।

तुम्हारे शरीर इसी वृत्त में घूमते रहते हैं, तथापि तुम्हारा अनन्त स्वरूप वही है।... प्रकृति का अर्थ है-- देश, काल और निमित्त। ज्योंही तुम्हें शरीर मिला कि देश की शुरुआत हो गयी, क्योंकि शरीर के बिना देश की

धारणा नहीं हो सकती। तुम सोचने लगे कि काल का प्रारम्भ हो गया। जब तुम सीमाबद्ध हो गये तो निमित्त शुरू हो गया। हमें इस सबके लिये कोई एक उत्तर चाहिए। सो उत्तर यह है कि हमारी यह सीमाबद्धता एक खेल है। हम मौज के लिए खेल रहे हैं। तुम्हें कुछ भी बाँध नहीं सकता। तुम पर किसी का जोर चल नहीं सकता। तुम बन्धन में कभी न थे। अपने ही द्वारा खोजे गये इस खेल में हम अपना-अपना अभिनय प्रस्तुत कर रहे हैं।

यहाँ हम व्यक्तित्व की बात पर विचार करें। कुछ लोगों को अपना व्यक्तित्व खो जाने का बड़ा डर होता है। यदि शूकर ईश्वर बन जाये तो उसके लिए अपना शूकर व्यक्तित्व छोड़ना क्या श्रेयस्कर नहीं होगा? होगा तो, पर बेचारा शूकर उस समय इसे ग्रहण नहीं कर पाता। अपनी किस अवस्था को मैं अपना व्यक्तित्व कहूँ? जब मैं छुटपन में छोटा सा बच्चा था और घुटनों के बल चलता था, अपना अँगूठा चूसता था, क्या उसे मैं अपना व्यक्तित्व मानूँ? और क्या ऐसे व्यक्तित्व को खो देने के विचार से मैं दुःखी होऊँ? जैसे आज मैं अपनी बचपन की अवस्था को देखकर हँसता हूँ, वैसे ही आज से पचास साल बाद मैं अपनी आज की अवस्था को देखकर हँसूँगा। इनमें से किस अवस्था के व्यक्तित्व को मैं रखूँ?

हमें इस व्यक्तित्व का अर्थ समझ लेना चाहिए...।

दो विपरीत प्रवृत्तियाँ हैं। एक प्रवृत्ति व्यक्तित्व को कायम रखने पर जोर देती है और दूसरी इस बात की तीव्र अभिलाषी है कि व्यक्तित्व की बलि दे दी जाय...। माता अपने छोटे से बच्चे के लिए अपनी सारी इच्छा और कामना को तिलांजलि दे देती है। जब वह बच्चे को गोद में लिये हुए है तो उस समय उसे अपने व्यक्तित्व के संरक्षण का ख्याल नहीं होता। वह स्वयं निकृष्ट से निकृष्ट खाना खायेगी और अपने बच्चों को अच्छा से अच्छा भोजन करायेगी। जिनको भी हमप्यार करते हैं उनके लिए हम मरने को भी तैयार होते हैं।

एक ओर तो हम इस व्यक्तित्व को बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं, और दूसरी ओर इसको खत्म करने की भी कोशिश करते हैं। परिणाम क्या होता है ? टॉम ब्राउन अपने व्यक्तित्व को कायम रखने के लिए घोर संघर्ष करता है। एक दिन वह मर जाता है और धरती की सतह में एक लहरी तक नहीं उठती। पर उन्नीस सौ साल पहले एक यहूदी (ईसा) आया और उसने अपने व्यक्तित्व को बचाने के लिए एक उँगली तक न हिलायी...। जरा उसकी बात सोचो ! उस यहूदी ने अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। और चमत्कार देखा ! वह विश्व में सबसे महान् बन गया। पर दुर्भाग्य है कि संसार इस तथ्य को भूले बैठा है।

कालान्तर में हम सभी व्यक्ति बनेंगे। पर किस

अर्थ में ? मनुष्य का व्यक्तित्व क्या है ? टॉम ब्राउन नहीं, वल्कि मनुष्य में ईश्वर। वही यथार्थ व्यक्तिमत्ता है। अपने उस वास्तविक व्यक्तित्व की ओर मनुष्य जितना बढ़ा है, उतना ही उसका मिथ्या व्यक्तित्व छूटता गया है। वह जितना ही अपने लिए सब कुछ बटोरने की कोशिश करता है, उतना ही अपने व्यक्तित्व पर आघात करता है। वह अपने बारे में जितना कम विचार करेगा, अपने जीवनकाल में अपने व्यक्तित्व की जितनी बलि देगा, उसका यथार्थ व्यक्तित्व उतना ही चमकेगा। यह एक ऐसा रहस्य है जिसे संसार नहीं समझता।

हम पहले समझ लें कि व्यक्तित्व किसे कहते हैं। वह है लक्ष्य की प्राप्ति। तुम अभी पुरुष हो, या स्त्री। तुम हर समय वदल रहे हो। क्या इसे रोक सकते हो? क्या तुम अपने मन को आज जैसा है वैसा ही रहने देना चाहते हो ? आज तो उसमें क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, झगड़ा-फ़िसाद यह सब भरा हुआ है। क्या तुम इस सबको वनाये रखना चाहते हो ?... (नहीं ऐसा नहीं हो सकता।) जब तक तुम पूरी तरह स्वयं पर विजय नहीं पा लेते, जव तक तुम पूर्ण और पवित्र नहीं बन जाते, तब तक कहीं भी रुक नहीं सकते।

जब तुम प्रेम और आनन्द से भर गये, जब अनन्त सत्ता से एकरूप हो गये, तो फिर क्रोध कहाँ रहा ?... तुम अपना कौन सा शरीर वनाये रखना चाहोगे ? जब

तक तुम अनन्त जीवन को प्राप्त नहीं कर लेते तब तक कहीं भी नहीं रुक सकते। अनन्त जीवन, और बस वहाँ तुम रुक पाओगे! आज तुम्हारा ज्ञान थोड़ा सा है, पर तुम हरदम अधिकाधिक ज्ञान पाने की कोशिश कर रहे हो। कहाँ रुकोगे? जब तक तुम जीवन से एकरूप नहीं हो जाते तब तक कहीं नहीं।...

कई लोग सुख को लक्ष्य मानते हैं। उस सुख को वे केवल इन्द्रियों में ही खोजते हैं। उच्चतर धरातलों पर अधिक सुख की खोज करनी चाहिए। तदनन्तर आध्यात्मिक धरातल पर। फिर अपने आप में, क्योंकि ईश्वर भीतर हैं। जिस मनुष्य का सुख अपने से बाहर है, वह दुःखी हो जाता है जब वह बाहर की चीज खत्म हो जाती है। तुम विश्व में किसी भी वस्तु पर इस सुख के लिए निर्भर नहीं रह सकते। यदि मेरे सारे सुख मेरे अपने भीतर हों तो मैं सर्वदा सुख का अनुभव करता रहूँगा, क्योंकि मैं अपने आपको कभी खो नहीं सकता। माता, पिता, सन्तान, पति, पत्नी, शरीर, सम्पत्ति--सब कुछ छूट जाते हैं पर अपना आपा कभी छूट नहीं सकता। वास्तविक सुख तो इसी अपने आपे में है। सारी इच्छाएँ इसी आत्मा पर आधारित हैं। वही ऐसा व्यक्तित्व है जो कभी परिवर्तित नहीं होता, और वह पूर्ण स्वरूप है।

इस व्यक्तित्व को प्राप्त कैसे किया जाय? जिस प्रकार इस संसार के मनीषियों-ने-महान् स्त्रियों और

पुरुषों ने-सतत विवेक और वैराग्य के अवलम्बन से उसे पाया था, वही रास्ता है। बहुदेववादमूलक द्वैतवादी सिद्धान्त भी वस्तुतः उसी एक सत्य की बात करते हैं कि यह मिथ्या व्यक्तित्व नष्ट होना चाहिए। अतएव यह अहंकार जितना कम होगा उतना ही मैं अपने बास्तविक स्वरूप के निकट पहुँचूँगा। मैं अपने व्यक्तिगत मन के बारे में जितना कम सोचूँगा, उतना ही विश्व-मन के समीप पहुँचूँगा। अपनी आत्मा के सम्वन्ध में जितना कम विचार करूँगा, उतना ही विश्व-आत्मा के पास पहुँचूँगा।

हम एक-एक शरीर में रहते हैं। हमें कुछ सुख मिलता है, कुछ दुःख। चूँकि इस शरीर में रहने से हमें थोड़ा सुख मिलता है, बस इसीलिये हम अपने आपको बनाये रखने हेतु संसार की सभी चीजों को नष्ट करने के लिए तत्पर रहते हैं। यदि हमारे दो शरीर हों, तो क्या वह अधिक अच्छा न होगा? इसी प्रकार बढ़ते चलें तो हम यथार्थ आनन्द की अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। (तब हम अनुभव करते हैं कि) मैं सब में हूँ; सभी हाथों द्वारा मैं ही कार्य करता हूँ; सभी पैरों से मैं ही चलता हूँ; सभी मुखों से मैं ही बोलता हूँ; हर शरीर में मैं ही निवास करता हूँ। मेरे अनन्त शरीर हैं, अनन्त मन हैं। मैं ही बुद्ध में था, ईसा मसीह में था, मुहम्मद में था। अतीत के सभी महान् और शुभ रूपों में मैं ही था, तथा वर्तमान के शुभ और महान्

रूपों में मैं ही हूँ । भविष्य में जो भी महापुरुष आयेंगे, उनमें भी मैं ही रहूँगा । क्या यह केवल सिद्धान्त मात्र है ? (नहीं, यह सत्य है ।)

यदि तुम इस सत्य का अनुभव कर सको, तो कितना अधिक आनन्द न पाओगे! कैसी हर्ष विह्वलता होगी, जरा सोचो तो ! भला ऐसा कौन सा एक शरीर इतना महान् है कि जिसकी हमें आवश्यकता हो सकती है ?...जब हम संसार के समस्त शरीरों में रहकर उनका भोग कर लेते हैं, तो हमारा क्या होता है ? हम अनन्त के साथ एकरस हो जाते हैं, और वही लक्ष्य है। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय-इससे भिन्न कोई दूसरा रास्ता नहीं है । एक व्यक्ति ने मुझसे कहा, "यदि मैं सत्य को जान लूँगा, तव तो मैं मक्खन की तरह पिघल जाऊँगा ।" ईश्वर करे, लोग पिघल जायें, पर वे अत्यन्त कड़े हैं, इतने सहज में नहीं पिघलते !

हम मुक्त होने के लिए क्या करें ? तुम तो मुक्त हो ही ।...जो सदैव मुक्त है, वह बँध कैसे सकता है ? यह झूठ है । तुम कभी बँधे नहीं थे । असीम को भला कोई कैसे सीमावद्ध कर सकता है ? अनन्त को अनन्त से विभाजित करो, अनन्त में जोड़ दो, अनन्त से गुणा करो, तो हर दशा में अनन्त ही शेष रहता है । तुम अनन्त हो; ईश्वर अनन्त है । तुम सभी के सभी अनन्त हो । दो सत्ताएँ नहीं हो सकतीं, केवल एक ही रह सकती है । अनन्त को सान्त नहीं बनाया जा सकता ।

तुम बद्ध कभी नहीं थे। यही सार वात है।...तुम मुक्त ही हो। तुम्हें जो कुछ पाना है, तुमने पा लिया है; लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है। कभी मन को ऐसा सोचने का अवसर न दो कि तुमने लक्ष्य को नहीं पाया है।

हम जैसा सोचते हैं, वैसा वन जाते हैं। यदि तुम सोचो कि मैं पापी हूँ तो तुम अपने को सम्मोहित कर लेते हो--'मैं एक तुच्छ, शोचनीय कीट हूँ!' जो नर्क में विश्वास करते हैं वे मरने के वाद नर्क में ही रहते हैं; और जो कहते हैं कि हम स्वर्ग जायेंगे, वे स्वर्ग ही चले जाते हैं।

यह सव एक विराट खेल है।...तुम कह सकते हो, "जब हमें कुछ करना ही है तो अच्छा काम करें।" पर असल वात यह है कि अच्छे और बुरे की कौन परवाह करता है? खेलो! सर्वशक्तिमान् ईश्वर खेलते हैं।--यही सार वात है।...तुम सर्वशक्तिमान् ईश्वर हो, खेल कर रहे हो। यदि तुम भिखारी का अभिनय करना चाहो, तो अपने इस चुनाव के लिए दूसरे किसी को दोषी नहीं ठहराना चाहिए। तुम्हें भिखारी के अभिनय का आनन्द उठाना चाहिए। तुम तो अपने दैवी स्वरूप से परिचित हो ही। तुम हो राजा और भिखारी का अभिनय कर रहे हो...। कैसी मौज है! यह जानो और खेलो। वस, यही जानना आवश्यक है। फिर, उसका अभ्यास करो। सारा विश्व एक विराट

खेल है । सभी मौज है इसलिए सभी अच्छा है । सम्भव है एक तारा हमारी पृथ्वी से आकर टकरा जाये और हम सव मर जायें । यह भी मजा है । पर तुम केवल उन्हीं छोटी छोटी वातों में मजा लेते हो जो तुम्हारी इन्द्रियों को सुख देती हैं ।...

हमें बताया जाता है कि यहाँ एक अच्छा देवता है और वहाँ एक बुरा देवता, जो हर समय मेरी निग--रानी कर रहा है और ज्योंही मैं गलती करता हूँ वह मेरी गर्दन दबोच लेता है ।...जब मैं बच्चा था तो किसी ने मुझे वतलाया कि ईश्वर सभी पर अपनी निगाह रखता है । जव मैं सोने गया तो ऊपर छत की ओर ताकता रहा कि ईश्वर उसे फोड़कर अव झाँकेगा । पर ऐसा कुछ भी न हुआ । वस्तुतः हम स्वयं पर नजर रखते हैं । दूसरा कोई हम पर नजर नहीं रखता । अपनी आत्मा को छोड़ दूसरा ईश्वर कहाँ है ? हम जो कुछ सोचते हैं वही प्रकृति है । आदत हमारा दूसरा स्वभाव वन जाती है; वैसे, वह प्रथम स्वभाव भी है । प्रकृति के नाम से इसे छोड़ और कुछ नहीं है । मैं कोई वात दो या तीन बार दुहराता हूँ; और वह मेरी प्रकृति बन जाती है । दुःखी मत होओ ! पश्चात्ताप न करो ! जो किया सो किया । यदि तुम अपने को जला लो, तो जलन तुम्हें ही भोगनी पड़ेगी ।

थोड़ा विचार करो । हम गलतियाँ करते हैं । पर उससे क्या ? वह भी सव खेल है । लोग अपने अतीत

के पापों का ख्याल कर पागल हो जाते हैं, रोते और कलपते हैं। यह कलपना छोड़ो ! कुछ अगर हो गया, तो उसकी चिन्ता न करो। आगे बढ़ो ! रुको मत ! पीछे मत देखो ! पीछे देखने से भला तुम्हें क्या मिलेगा? यदि तुम कुछ खोते भी न हो, तो पाते भी कुछ नहीं। तुम्हें मक्खन के समान पिघल नहीं जाना है। स्वर्ग, नर्क और जन्म जन्मान्तर-यह सब फिजूल बातें हैं !

कौन जन्म लेता है और कौन मरता है ? तुम तो मौज कर रहे हो, संसारों के साथ खेल कर रहे हो। तुम जब तक चाहो, इस शरीर को रखो। अगर न चाहो तो छोड़ दो। अनन्त ही सत्य है; सान्त केवल खेल है। तुम एक ही साथ अनन्त शरीर हो और सान्त शरीर भी। इसे जान लो ! पर जान लेने से कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं; खेल तो चलता ही रहेगा।... दो शब्द--आत्मा और शरीर--जुड़ गये हैं। इसका कारण है एकांगी ज्ञान। जान लो कि तुम सदैव मुक्त हो। ज्ञानाग्नि समस्त अपवित्रता और सीमितता को दग्ध कर देती है। मैं वही अनन्त हूँ।...

तुम वैसे ही स्वतंत्र हो जैसे प्रारम्भ में थे, अभी हो और सदैव रहोगे। जो जानता है कि वह मुक्त है, मुक्त ही हो जाता है। जो समझता है कि वह बद्ध है, बँधा ही रह जाता है।

तब, ईश्वर और उपासना आदि की जगह कहाँ रही ? उनका भी स्थान है। मैं अपने ही आपको ईश्वर

में और मुझमें विभाजित कर लेता हूँ। मैं ही उपासना करता हूँ और मैं ही उपास्य भी बनता हूँ। इसमें भला क्या आपत्ति है ? ईश्वर ही तो मैं है। मैं अपनी आत्मा की उपासना क्यों न करूँ ? विश्व का ईश्वर भी मेरी ही आत्मा है। यह सब बड़ी मौज है। दूसरा कोई उद्देश्य नहीं है।

जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? कुछ भी नहीं, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं अनन्त हूँ। यदि तुम भिखारी हो तो तुम्हारे लक्ष्य हो सकते हैं। मेरा कोई लक्ष्य नहीं, मुझे कोई अभाव नहीं, मेरा कोई उद्देश्य नहीं। मैं तुम्हारे देश में आया और भाषण कर रहा हूँ--यह सब मौज के लिए। और कोई दूसरा हेतु नहीं। भला और कौन सा हेतु हो सकता है ? केवल गुलाम ही दूसरों के लिए काम करते हैं। तुम अन्य किसी के लिए काम नहीं करते। जब तुम्हें मौका मिलता है तो तुम उपासना कर लेते हो। तुम ईसाई, मुसलमान, चीनी और जापानी सबके साथ मिलकर प्रार्थना कर सकते हो। जितने देवता आज तक हो चुके और जितने भविष्य में होंगे, उन सबकी तुम उपासना कर सकते हो।...

मैं सूरज में हूँ, चाँद में हूँ, सितारों में हूँ। मैं ईश्वर के साथ हूँ और सभी देवताओं में हूँ। मैं अपनी ही आत्मा की उपासना करता हूँ।

इसका दूसरा पक्ष भी है। मैंने उसे बचाकर रखा

है। मैं ही वह मनुष्य हूँ जिसे फाँसी पर चढ़ाया जाने वाला है। मैं ही दुष्टों में हूँ। मैं ही नर्कों की यातनाएँ भोग रहा हूँ। यह भी मौज है। दर्शन का लक्ष्य यह जान लेना ही है कि मैं अनन्त हूँ। उद्देश्य, प्रयोजन, हेतु और कर्तव्य की बात करना गौण है।...

इस सत्य को पहले सुनना चाहिए, फिर मनन करना चाहिए। तर्क करो; जितनी युक्तियाँ पेश कर सकते हो, करो। जिनका जीवन आलोकित हो चुका है वे इससे अधिक नहीं जानते। यह निश्चित जान लो कि तुम सबमें हो। इसीलिए किसी को चोट नहीं पहुँ-चानी चाहिए, क्योंकि किसी को चोट पहुँचाने जाकर तुम वास्तव में स्वयं को ही चोट पहुँचाते हो।...अन्त में, इस पर निदिध्यासन करना चाहिए। इस पर चिन्तन करो। क्या तुम ऐसा अनुभव कर सकते हो कि एक समय आयेगा जब सब कुछ धूल में मिल जायगा और तुम अकेले खड़े रहोगे ? यदि कर सको तो उस क्षण का दिव्य आनन्द तुमसे कभी दूर न होगा। तब तुम यथार्थ में देखोगे कि तुम्हारे शरीर नहीं है, और न कभी था ही।

मैं सर्वदा एक हूँ, अकेला और शाश्वत हूँ। मैं किससे डरूँगा ? सभी तो मेरी आत्मा है। इस विचार पर सतत ध्यान करना चाहिए। सतत निदिध्यासन से अनुभूति की अवस्था आती है, और अनुभूति से तुम दूसरों के लिए आशीर्वाद स्वरूप बन जाते हो।...

"ब्रह्मविद् इव वै सोम्य भासि"-- तेरा चेहरा ब्रह्मवेत्ता की तरह चमक रहा है !" बस यही लक्ष्य है। यह उपदेश देने की बात नहीं, जैसा कि मैं कर रहा हूँ। 'चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्यार्गुरुर्युवा । गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ।'-- वट के नीचे मैंने एक सोलह बरस का गुरु देखा, शिष्य तो अस्सी बरस का बूढ़ा था। गुरु मौन रहकर उपदेश कर रहे थे और शिष्य के सारे संशय दूर हो जा रहे थे !' और बोलता कौन है? सूरज को देखने के लिए कौन दीप जलाता है? जब सत्य हृदय में प्रकट होता है, तब अन्य साक्ष्य की आवश्यकता नहीं होती। इसे जान लो।... और फिर इसको अनुभव में लाने की कोशिश करो। पहले इस पर चिन्तन करो, तर्क करो। अपनी शंकाओं का समाधान कर लो। और तब, अन्य कोई बात न सोचो। ईश्वर करता कि हम कुछ न पढ़े होते ! देखो, मनुष्य क्या बन गया है ? केवल दूसरों की जूठन चाटने वाला ! लिखेगा तो केवल दूसरों के उद्धरण ही देगा-- "यह कहा है और वह कहा है...।" पर मेरे मित्र, तुम क्या कहते हो ? "मैं कुछ नहीं कहता।" वह अन्य सबके विचारों को उद्धृत करेगा, पर स्वयं कुछ नहीं सोचता। यदि यह शिक्षा हो, तो पागलपन किसे कहेंगे ? जरा आज के लेखकों पर तो गौर करो, दो वाक्य अपना खुद का नहीं लिख पाते ! केवल उद्धरण !...

किताबों में कुछ धरा नहीं है और मौखिक धर्म की

कोई कीमत नहीं है। धर्म तो भोजन के समान है। तुम्हारा धर्म मुझे सन्तुष्ट नहीं करेगा। ईसा ने ईश्वर को देखा, बुद्ध ने परमतत्त्व को जाना। यदि तुमने ईश्वर को न देखा हो, तो नास्तिक से बेहतर तुम नहीं हो। वल्कि नास्तिक तो चुप रहता है, पर तुम बकवास करते हो और अपनी बातों से दुनिया को बेचैन करते हो। ग्रन्थों, बाइबिल और धर्मशास्त्रों का कोई प्रयोजन नहीं है। जब मैं छोटा था तब एक वृद्ध से मिला था। उन्होंने कोई शास्त्र नहीं पढ़े थे पर स्पर्श के द्वारा वे ईश्वर का सत्य दूसरों में संचारित कर देते थे।

दुनिया के उपदेशको, मौन हो जाओ। किताबो, चुप हो जाओ! प्रभो, केवल तुम्हीं बोलो और तुम्हारा यह दास सुने।... यदि यहाँ सत्य न हो तो इस जीवन की उपयोगिता क्या है? हम सभी सोचते हैं कि जीवन को पकड़ लेंगे, पर पकड़ नहीं पाते। हममें से अधिकांश केवल धूल ही पकड़ पाते हैं। ईश्वर वहाँ नहीं है। यदि ईश्वर न हो तो जीवन का क्या उपयोग? क्या विश्व में कोई विश्राम की जगह है? यह तो हमारे लिए है कि हम खोजें। पर हम आकुलता के साथ खोज नहीं करते। हम प्रवाह में बहने वाले तिनके के समान हो जाते हैं।

यह सत्य यदि है, यदि ईश्वर है, तो उसे हमारे अपने भीतर होना चाहिए।... मुझे कह सकना चाहिए कि "मैंने उसे अपनी आँखों से देखा है।" अन्यथा धर्म

में विश्वास करने का कोई अर्थ नहीं है। मतों, सिद्धान्तों और उपदेशों से धर्म नहीं बनता। वह तो प्रत्यक्ष अनु-भूति है, ईश्वर का दर्शन है। संसार जिन पुरुषों को पूजता है उनको गरिमा किसमें है ? ईश्वर उनके लिए मात्र सिद्धान्त नहीं था। क्या वे ईश्वर में इसलिए विश्वास करते थे कि उनके दादों-परदादों ने किया था? नहीं, उन्होंने अपने शरीर, मन और सब कुछ की सीमा से ऊपर उठकर अनन्त का साक्षात्कार किया था। यह संसार उतने ही अंश में सत्य है जितने में कि वह ईश्वर का थोड़ा सा प्रतिविम्व है। हम अच्छे व्यक्ति को इसलिए चाहते हैं कि उसके चेहरे पर ईश्वर का प्रति-विम्ब कुछ अधिक झलकता है। हमें भी अपने लिए इस प्रतिबिम्ब को पकड़ना चाहिए। दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

यही लक्ष्य है। उसे पाने का प्रयास करो ! तुम स्वयं अपनी बाइबिल बनाओ। तुम अपने तईं ईसा बनो। अन्यथा तुम धार्मिक नहीं हो। धर्म की बातें मत करो। लोग बस बातें ही बातें करते हैं। उनमें से कुछ घिरे तो अन्धकार में रहते हैं, पर घमण्ड में आकर सोचते हैं कि उन्हें आलोक मिल गया। यही नहीं, वे दूसरों को भी अपने कन्धों पर बैठने का आह्वान करते हैं और दोनों के दोनों गढ़े में गिर पड़ते हैं।...

कोई चर्च अपने आप में किसी की रक्षा नहीं कर सकता। किसी चर्च या मन्दिर में जन्म लेना अच्छा है,

पर उस व्यक्ति को धिक्कार है जो वहीं मर जाता है। उससे बाहर निकल आओ !..वह प्रारम्भ के लिए ठीक था, पर अब उसे छोड़ दो। वह बचपन का घर था...., उसे रहने दो, पर तुम खुद निकल आओ। ईश्वर की ओर सीधे बढ़ जाओ। सिद्धान्तों और मतवादों को छोड़ दो। तभी समस्त संशयों का नाश होगा। तभी सारी वक्रताएँ ऋजु होंगी।...

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्
एको वहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

--'जो अनित्य पदार्थों में नित्य है, चेतनावान् प्राणियों में चैतन्य है और जो अकेला ही अनेकों की कामनाएँ पूर्ण करता है, उस तत्त्व को जो विवेकी पुरुष सदैव अपने भीतर स्थित देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत शान्ति मिलती है; औरों को नहीं !'

•

सब कुछ मन पर निर्भर है। मन शुद्ध हुए बिना कुछ भी लाभ नहीं होता। कहा गया है कि साधक पर भले हो गुरु, ईश्वर और सन्तों की कृपा हो पर यदि 'एक' की कृपा न हो तो सब असार हो जाता है। यह 'एक' मन है। साधक पर मन की कृपा होनी चाहिए।

— **श्री माँ सारदा।**

गीता की भूमिका

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में स्वामी आत्मानन्द इस समय श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन कर रहे हैं। ये प्रवचन अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। लोगों के अत्यधिक आग्रह पर स्वामीजी ने धारावाहिक रूप से अपने उन गीता-प्रवचनों को 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित करना स्वीकार कर लिया है। प्रस्तुत प्रवचन 'गीता–व्याख्यान माला' का प्रथम प्रवचन था और २ जुलाई, १९६७ को दिया गया था।)

अब आज से हम श्रीमद्भगवद्गीता पर विचार करना शुरू करेंगे। दो वर्ष पहले जब यहाँ पर सत्संग का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ तब हमने उपनिषदों को चर्चा के लिए लिया था। पहले हमने ईशावास्योपनिषद् को लिया, बाद में केनोपनिषद् को और अन्त में कठोपनिषद् को। उसके बाद हमने सोचा कि गीता पर विचार करने के पहले हम एक भक्ति का ग्रंथ ले लें। इसलिये इन तीन उपनिषदों पर विचार करने के बाद हमने नारदभक्तिसूत्र नामक भक्ति के विख्यात ग्रन्थ पर विचार किया। कई महानुभावों ने मुझसे आग्रह किया कि नारदभक्तिसूत्र के बाद महर्षि पतंजलि के योगसूत्रों पर चर्चा कर ली जाय। पर मैंने पहले गीता पर विचार करना अधिक अनुकूल समझा, इसलिए हम गीता पर चर्चा प्रारम्भ कर रहे हैं। इसका कारण यह

है कि गीता के शाश्वत उपदेश हमारे रोजमर्रे के जीवन के लिये अतिशय उपयुक्त हैं। अर्जुन के भिन्न-भिन्न प्रश्नों के भगवान् श्रीकृष्ण ने जो उत्तर प्रदान किये हैं वे हमारे लिए भी प्रयोजनीय हैं।

अर्जुन जीव का प्रतिनिधित्व करते हैं। हम संसार में जीवन यापन करते हैं। संसार में हमारे सामने अनेक समस्याएँ आती हैं और हमारे मन में अनेक प्रश्नों का उदय होता है। हम इन समस्याओं का उत्तर पाना चाहते हैं। ये हमारे जीवन की मौलिक समस्याएँ हैं। मनुष्य केवल रोटी से ही सन्तुष्ट नहीं होता। यह सही है कि मनुष्य को रोटी की जरूरत होती है, उसे देह के लिये कपड़े की आवश्यकता होती है और अपना सिर छिपाने के लिये एक निवास, एक छत का प्रयोजन होता है। पर जब ये जरूरतें पूरी हो जाती हैं तब मन के लिये खाद्य जुटाना आवश्यक हो जाता है। मानसिक भोजन की पूर्ति धार्मिक सम्प्रदायों के द्वारा की जाती है। हम देखते हैं कि संसार में अनेकानेक धर्म-सम्प्रदायों का विकास हुआ है। ये विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय इसलिये खड़े हुए हैं कि ये मनुष्य के मन की भूख को तरह-तरह से मिटा सकें। एक ही सम्प्रदाय सभी लोगों के मन की भूख को नहीं मिटा सकता। इसीलिये विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। हम देखते हैं कि जब कोई नया सम्प्रदाय गठित होता है तो अनेक लोग उसके अनुयायी हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह

है कि पहले के सम्प्रदाय उनकी मानसिक भूख को शान्त नहीं कर सके थे। नया सम्प्रदाय उनकी मानसिक भूख का समाधान प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि नये नये सम्प्रदाय पल्लवित और विकसित होते रहते हैं।

मानव-जीवन में जो जटिलताएँ आ सकती हैं, मनुष्य के मन में जितने प्रकार के प्रश्न उदित हो सकते हैं, वे सभी जटिलताएँ और प्रश्न अर्जुन के माध्यम से गीता में अभिव्यक्त हैं। इसीलिये मैंने अर्जुन को जीव का प्रतिनिधि कहा है। भगवान् कृष्ण उन प्रश्नों की मीमांसा करते हैं।

अर्जुन महाबली हैं। वे नर के अवतार कहे गये हैं तथा उनका चित्रण एक महनीय व्यक्ति के रूप में हुआ है। पर यह अर्जुन भी संशय से ग्रस्त होते हैं! जीवन की इस पहेली का क्या रहस्य है? संसार में आने-जाने का यह क्रम शाश्वत है या इसका अन्त किया जा सकता है? हमारे जीवन का प्रयोजन क्या है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो स्वाभाविक रूप से सबके मन में उठा करते हैं। इन प्रश्नों का उठना बुरा नहीं है। बल्कि यदि ये प्रश्न न उठें तो समझना चाहिए कि मनुष्य की उन्नति कहीं अवरुद्ध हो रही है।

मानव-जीवन क्या है? मानव-जीवन इसी प्रश्न को सुलझाने का प्रयास है। जब तक व्यक्ति के मन के प्रश्न सुलझ नहीं जाते तब तक वह आगे नहीं बढ़ पाता। यह जरूरी नहीं कि हमारे प्रश्न दार्शनिक ही

हों। एक छोटा सा प्रश्न भी हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सकता है। एक छोटा सा प्रश्न हमारे मन में जगा कि हमारे जीवन का प्रयोजन क्या है, तो समझ लीजिये कि प्रकृति माता की कृपा हो गयी। हम भले ही संसार के कर्मों में डूबकर इन प्रश्नों को भुला देना चाहें पर कभी न कभी ये प्रश्न हमारे मन में जगते हैं और हम अपने आप से पूछते हैं कि हम आखिर क्या पाना चाहते हैं? अन्त में हम कहा जायेंगे ? इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये हमारा मन व्याकुल हो जाता है। केवल भारत जैसे अध्यात्मप्रवण देश के व्यक्तियों के मन में ही ये प्रश्न नहीं जगा करते, वल्कि विज्ञान की रोशनी से चकाचौंध हुए पश्चिमी देशों की जनता के मन में भी ऐसे प्रश्न उठा करते हैं। ये ऐसे देश हैं जहाँ विज्ञान के सहारे मनुष्य प्रकृति के रहस्यमय सत्यों को उद्‌घाटित कर रहा है। इन देशों में भी एक प्रश्न मनुष्य के मन में खलवली मचा रहा है। वह यह कि मानव-जीवन का अभिप्राय क्या है ? हमारे जीवन का प्रयोजन क्या है ?

नोबल-पुरस्कार विजेता एलेक्सिस कैरल ने एक पुस्तक लिखी है। उसका नाम है 'मैन दि अननोन'। इस ग्रन्थ में वे मानव-मन में उठने वाले प्रश्नों का उल्लेख करते हैं। वे वताते हैं कि मनुष्य के दो रूप हैं। पहला रूप तो वह है जो जाना हुआ है, जो ज्ञात है; और दूसरा रूप वह है जो अबतक अजाना ही है। मनुष्य का जाना हुआ

रूप क्या है ? यही कि उसकी लम्बाई कितनी है ? उसकी ऊँचाई कितनी है ? उसका रंग-रूप और उसका वाहरी नक्शा कैसा है? यह मनुष्य का जाना रूप है। पर यह रूप वहुत अल्प है। इसके अतिरिक्त उसका अजाना रूप है जो बहुत विस्तृत है। हमारा वहुत सा भाग ऐसा है जो अजाना है और इस अजाने रूप को जानने की प्रक्रिया ही जीवन की प्रक्रिया है। जो अजाना है उसे जानने का प्रयास ही जीवन है।

तो क्या हम अपने आप को नहीं जानते ? नहीं, हम अपने आप को नहीं जानते। एलेक्सिस कैरल कहते हैं कि मनुष्य केवल अपने एक ही अंश को जानता है। पर यह अंश अत्यल्प है। वह अपने वहुलांश को नहीं जानता, वह अजाना है। इसी अजाने रूप को जानने का आह्वान उपनिषद् करते हैं।

भारत में इस प्रश्न पर विचार किया गया कि अपने आप को हम कैसे जानें ? अपनी इन्द्रियों के सहारे हम अपने शरीर का ज्ञान प्राप्त करते हैं। हम आँखों से देखते हैं, त्वचा से स्पर्श करते हैं, रसना से स्वाद लेते हैं, नाक से घ्राण लेते हैं। इन विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा हम मनुष्य के ज्ञात रूप को ही जानते हैं। पर मनुष्य का अज्ञात रूप इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। ऋषियों ने विश्लेषण किया कि हम जितना जानते हैं वह मन के द्वारा ही जानते हैं। पर मन को हम नहीं जानते। मन में विचार उत्पन्न होता है और उससे

ज्ञान की प्राप्ति होती है। पर मन क्या है? मन को जानो, उसे टटोलो, उसे समझने का प्रयास करो। भारत में ऋषियों ने मन के स्वभाव को समझना चाहा। उन्होंने उस मन को जानने का प्रयास किया जिसके सुप्त रहते सुख-दुःख की वेदना नहीं होती और जिसके जागते ही समस्त प्रकार की संवेदनाएँ होने लगती हैं। वे निरन्तर मन का शोध करते रहे और एक दिन आया जब उन्होंने मन को समझ लिया। उन्होंने उस विधि का आविष्कार कर लिया जिससे मन को जाना जा सकता है। मन को जानने की इस विधि को योग कहा गया है।

गीता मन को जानने की विद्या है। इसे योगशास्त्र भी कहा गया है। महर्षि पतंजलि ने जब अपना प्रख्यात योगसूत्र लिखा तब पहले उन्होंने योग की परिभाषा दी। योग क्या है? पतंजलि कहते हैं—"योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः।"—योग वह उपाय है जिससे चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। अभी तो हमारे मन की वृत्तियाँ प्रवहमान हैं। जिस प्रकार नदी या नाले में जल का प्रवाह बहता है उसी प्रकार मन का प्रवाह भी अविराम गति से बह रहा है। हमारे जानते एक भी क्षण ऐसा नहीं आता जब मन विचारों से शून्य रहता हो। जब हम सोते हैं और सपना देखते हैं तब भी हमारा मन प्रवहमान रहता है। हम सपने में जो दृश्य देखते हैं वह मन के प्रवाह के कारण ही सम्भव हो पाता है। केवल सुषुप्ति की दशा में—स्वप्नविहीन प्रगाढ़ निद्रा की दशा

में ही हमारा मन कुछ समय के लिये स्थिर और शान्त होता है। अच्छा, जब सुषुप्ति में हमारा मन शान्त होता है, जब मन का प्रवाह कुछ देर के लिये बन्द होता है, तब क्या हम उसके स्वभाव को जान सकते हैं ? नहीं, क्योंकि जो जाननेवाला मन है वही सोया रहता है। सुषुप्ति के अतिरिक्त अन्य सभी समय मन का प्रवाह अविराम रूप से वहता रहता है। मन के इस प्रवाह को ज्ञानपूर्वक रोकना ही योग है।

बाहर से हम बहनेवाली नदी या नाले के प्रवाह की तीव्रता को नहीं जान पाते। हमें उसकी तीव्रता और शक्ति का बोध तब होता है जब हम उसे बाँधते हैं। जो लोग नदी या नाले के प्रवाह को बाँधते हैं वे ही उसके वेग को जानते हैं। इसी प्रकार, हमें अपने मन के प्रवाह की शक्ति का बोध तव तक नहीं होता जव तक वह बहता रहता है और उसके साथ हम भी वहते रहते हैं। हम तब तक यह नहीं जानते कि मन के इस प्रवाह में कितनी शक्ति छिपी हुई है।

एक वार मैं बेलुड़ मठ गया था। वहाँ मैं गंगा के तीर पर स्नान कर रहा था। मैं कोई तैराक नहीं था। वचपन में गाँव के तालाब में हाथ-पैर मार लिया करता था। मैंने तीर पर ही थोड़ा हाथ-पैर मारकर देखा। मुझे लगा कि मैं तो गंगा में अच्छी तरह से तैर सकता हूँ, क्योंकि मुझे आगे बढ़ने में कोई कठिनाई नहीं हुई। मैं आगे बढ़ा। थोड़ी दूर जाने पर किनारे पर खड़ा

हुआ एक व्यक्ति चिल्लाया– "स्वामीजी, आगे मत जाइये, वहुत गहराई है।" मैंने वहाँ पर जल की थाह ली। पता चला कि वहाँ तो जल अथाह है। मैं वापस लौटा। पर पाँच मिनट तक हाथ-पैर मारने पर भी मैं मुश्किल से एक-दो गज वापस लौट सका। इसका कारण यह था कि जव मैं किनारे से गंगा में तैर रहा था तव मैं प्रवाह के साथ था। पर वापस लौटते समय मैं प्रवाह के विपरीत पड़ गया था। जव मैं गंगा के प्रवाह के साथ बढ़ रहा था तब मुझे उसकी ताकत का बोध नहीं हुआ, पर जब मैं वापस लौटने का प्रयास करने लगा, तब पता चला कि प्रवाह कितना खर है। मैं प्रवाह की उल्टी दिशा में तैर ही न सका। तव मैं फिर से प्रवाह के साथ साथ आगे बढ़ते हुए, धीरे-धीरे प्रवाह को काटते हुए कोई सौ गज की दूरी पर किनारे लगा। यही वात मन के प्रवाह के साथ भी लागू होती है।

योग मन के प्रवाह को वाँधने की विधि है। योग की परिभाषा में कहा गया है कि चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है। चित्त की वृत्तियाँ कभी स्थिर नहीं रहतीं। वे सदैव चंचल रहती हैं। इन प्रवहमान चित्तवृत्तियों को वाँधना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। तथापि चित्तवृत्तियों को बाँधने पर ही मन को जाना जा सकता है। इसके लिये मन को रोकना होगा। विचार के सहारे विचारों को काटना होगा। विचार के द्वारा

ही विचार के ऊपर उठना होगा। यही विधि है। यह विधि सुनने में बड़ी पहेली सी लगती है। विचार के सहारे हम विचारों को कैसे काट सकते हैं? भारतीय साधकों ने इस पहेली को सुलझाया। उन्होंने कहा– "संसार में रहने पर मन सदैव चंचल बना रहता है, वह स्वाभाविक रूप से बहता रहता है। जव सांसारिक झमेले आते हैं तब उसका प्रवाह और भी प्रखर वन जाता है। इसलिये संसार में रहकर तुम मन को नहीं जान सकते। अतएव तुम अरण्य की ओर चले चलो। ऐसे एकान्त स्थल में, निभृत गिरि-गह्वरों में निवास करो जहाँ संसार और उसकी चिन्ता तुम्हारे सामने न हो।" तव तो भोजन की कोई समस्या थी नहीं। प्रकृति परम दयामयी थी। नदी स्वच्छ जल से भरी रहती, वृक्ष फलों से लदे रहते और धरती में प्रचुर मात्रा में कन्द-मूल समाये रहते। तव लोग मन को जानने के लिये अरण्यवासी हो जाया करते और कन्द-मूल खाकर आत्मचिन्तन में लगे रहा करते। वे विचार करते कि मन का स्वभाव कैसा है? जीवन की इस पहेली का अर्थ क्या है? जन्म और मृत्यु का तात्पर्य क्या है? प्रकृति के अन्तराल में जो मूलसत्ता है, उसका स्वरूप क्या है?

आदिम मानव प्रकृति की शक्तियों की पूजा किया करता था। यह मानव का स्वभाव है कि वह अपने से वली शक्तियों की पूजा करता है। जव वह देखता है कि

वह किसी शक्ति पर आधिपत्य प्राप्त करने में सफल नहीं होता तो वह उसकी पूजा करने लगता है। वेद मानव के मन की विकास-गाथा हैं। मनुष्य का मन क्रमशः जिन सोपानों में से विकसित होता गया है, वेद उनकी सुन्दर कहानी कहते हैं। वेदों में पहले हम ऐसे मन को देखते है जो अभी अविकसित है; फिर वह धीरे-धीरे अपना विकास करता है और कालान्तर में विकास की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इसीलिये मैं वेदों को मानवीय मन के विकास की गाथा कहता हूँ।

आदिम काल में मनुष्य प्रकृति की शक्तियों से डरा करता था। वह देखता था कि जब जोरों की आँधी आती है तो वृक्ष टूटकर गिर पड़ते हैं, झोपड़ियाँ गिर जाती हैं और धन नष्ट हो जाता है। आदिम मानव ने कल्पना की कि हो न हो यह आँधी कोई शक्ति है। उसने उस शक्ति का मानवीकरण किया। यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह जिसकी पूजा करता है उसे मानवीय रूप प्रदान कर देता है। वह ईश्वर को भी मानवीय रूप दे देता है और उसे समस्त मानवीय गुणों से युक्त कर देता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की कल्पना उसके अपने मन से मर्यादित है। यदि कोई मछली ईश्वर की कल्पना करे तो वह ईश्वर को एक बहुत वड़ी मछली के रूप में देखेगी। यदि कोई भैंस ईश्वर की कल्पना करे तो ईश्वर को वह एक बहुत बड़ी भैंस के रूप में सोचेगी। इसी प्रकार यदि कोई पक्षी

ईश्वर के वारे में सोचे तो उसकी कल्पना में ईश्वर एक वहुत वड़े पक्षी का रूप धारण करेगा। अत: जव मनुष्य ईश्वर की कल्पना करता है तो वह उसे मानवी गुणों से युक्त कर देता है। यह मनुष्य का अपना स्वभाव है।

जव आदिम मानव ने आँधी की प्रचंडता का अनुभव किया तो उसने कल्पना की कि यह एक मानवोपरि शक्ति है। इसे उसने मरुत् कहकर पुकारा। उसने सोचा कि मरुत् एक देवता है। वह जव मनुष्यों पर खुश होता है तव उन्हें प्राण प्रदान करता है और जव कुपित हो जाता है तव उनके प्राण ले लेता है। इसीलिये वेदों में मरुत् की स्तुति करते हुए कहा गया है—'हे मरुत्, हम तुम्हारी उपासना करते हैं। हमें जो वस्तु सुन्दर और प्रिय लगती है वह हम तुम्हें प्रदान करते हैं तुम हम पर कृपा करो। आँधियों को मत भेजो।' इस प्रकार वेदों की ऋचाओं का जन्म होता है। मनुष्य ने देखा कि अग्नि जब कुपित होती है तो सारा कबीला जलकर राख हो जाता है, सारी सम्पत्ति स्वाहा हो जाती है। इसलिये उसने सोचा कि अग्नि एक देवता है। जब वह संतुष्ट होता है तब हमारी रक्षा करता है। इसलिये अग्नि की स्तुति में ऋचाएँ बनायी गयीं। इसी प्रकार उसने देखा कि जब जोरों से वर्षा होती है तब सम्पत्ति और फसल नष्ट हो जाती है। उसने कल्पना की कि वर्षा का भी एक देवता है। इस देवता को उसने वरुण कहकर पुकारा। इस प्रकार वेदों में हम भिन्न-भिन्न

देवताओं का आविर्भाव होते हुए देखते हैं। प्रकृति की विविध शक्तियों को मानवीय रूप देने के कारण ही इन देवताओं का जन्म हुआ है, और इनका उदय मन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम है।

इन देवताओं को किस प्रकार प्रसन्न किया जाय? आदिम मानव ने देखा कि जहाँ आग लगती है वहाँ धुआँ ऊपर की ओर उठता है और आकाश में विलीन हो जाता है। उसने सोचा कि हमारे लोक के ऊपर एक देवलोक है जहाँ देवता रहते हैं। उसने कल्पना की कि इस धुएँ के सहारे स्वर्ग के देवताओं से अपना सम्वन्ध स्थापित किया जा सकता है और उन्हें अपना संदेश भेजा जा सकता है। इस प्रकार आहुतियों का जन्म होता है। मनुष्य कल्पना करता है कि वह अग्नि, वरुण, मरुत् इत्यादि के लिए आहुतियाँ डालकर उन्हें प्रसन्न कर लेगा। वह कहता है– हे धूम्रशिखा, तुम ऊपर जाओ और अग्नि को हमारा यह संदेशा दो कि हम अग्नि का सत्कार करते हैं; हमें जो वस्तुएँ प्रिय लगती हैं, जो सोम हमारे जीवन को पुष्ट बनाता है उसे हम अग्नि के लिये समर्पित कर रहे हैं। यहाँ प्रियतर वस्तुओं की आहुति देकर देवताओं को प्रसन्न करने का भाव दिखाई देता है। वाद में आहुतियों की विधि पर व्यापक और विस्तारपूर्वक विचार किया गया। सोचा गया कि यज्ञकुण्ड किस प्रकार के हों? उनमें किस प्रकार से और कितनी ईंटें लगायी जायें? उन्हें किस दिशा में बनाया जाये?

इत्यादि ।

इस तरह कर्मकाण्ड का प्रादुर्भाव होता है । मनुष्य सोचता है कि देवता स्वर्ग में रहते हैं तथा उन्हें आहुतियाँ देकर सन्तुष्ट किया जा सकता है । देवताओं के सन्तुष्ट होने पर उसे भी मरणोपरान्त स्वर्ग में स्थान प्राप्त हो सकता है। स्वर्ग ऐसा लोक है जहाँ सभी प्रकार के सुख हैं पर दुःख का नितान्त अभाव है। संसार में तो सुख के साथ दुःख भी भोगना पड़ता है, वल्कि यों कहें कि सुख की तुलना में दुःख ही अधिक भोगना पड़ता है। मनुष्य दुःखविरहित सुख की चाह करता है, इसलिये वह स्वर्ग की कल्पना करता है और उसकी प्राप्ति के लिये विभिन्न यज्ञों का आविष्कार करता है । फिर, स्वर्ग की भी कई श्रेणियाँ बन जाती हैं और उनकी प्राप्ति के लिए बहुविध क्रिया-अनुष्ठानों का प्रचार होता है । कालान्तर में बलि और क्रियानुष्ठान यज्ञों के अनिवार्य अंग बन जाते हैं और कर्मकाण्ड अति जटिल रूप धारण कर लेता है । यज्ञ के धुएँ से भारत का आकाश छा जाता है और पशुबलि के रक्त से धरा सन जाती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-मन ने प्रकृति की शक्तियों के पीछे अधिष्ठाता देवताओं की कल्पना की, देवताओं को स्वर्ग का निवासी वनाया और देवताओं को प्रसन्न करने हेतु विभिन्न जटिल यज्ञों का आविष्कार किया ।

पर तब तक समाज में ऐसे भी लोग जन्म ले चुके

थे जो चिन्तक किस्म के थे। ये लोग बुद्धि और तर्क पर अधिक जोर देते थे। इनकी प्रवृत्ति वैज्ञानिक थी और ये किसी भी बात को तब तक मानने के लिए तैयार न थे जब तक युक्ति की कसौटी पर वह खरी न उतर जाये। उन्होंने विचार किया कि आखिर ये स्वर्ग क्या हैं? क्या ये शाश्वत हैं और हमें चिरकालिक सुख दे सकेंगे? उन्होंने तर्क किया कि स्वर्ग तो यज्ञादि कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। कर्म अपने आप में सीमित होते हैं, अतः सीमित कर्म का असीम फल कैसे प्राप्त हो सकता है? इसीलिए इन विचारक किस्म के लोगों ने फटकार कर कहा—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायात् नास्ति अकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
(मुण्डक उप० १।२।१२)

—'कर्म से प्राप्त लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण को कर्मों से वीतराग हो जाना चाहिए क्योंकि कृत (सीमित और अनित्य) से अकृत (असीम और नित्य) नहीं मिल सकता। यदि उसे असीम और नित्य को जानने की चाह है तो वह समित्पाणि होकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास विधिपूर्वक जाये।'

यहाँ 'ब्राह्मण' का तात्पर्य ब्राह्मणकुल में जन्म लेने वाले व्यक्ति से नहीं है, बल्कि इसका तात्पर्य है 'ब्रह्म

का खोजी'। जो ब्रह्म को खोजता है, सत्य का अन्वेषण करता है, वह एक बार कर्मों से प्राप्त लोकों की परीक्षा तो करके देखे। इस प्रकार इन चिन्तकों ने देखा कि स्वर्ग भी अपने कारणरूप यज्ञों के समान ही विनाशी और अनित्य हैं। स्वर्ग में सदा के लिए रहना सम्भव नहीं है। यह गणित का एक सामान्य सिद्धान्त है कि यदि किसी संचित वस्तु का लगातार व्यय किया जाय तो एक दिन ऐसा भी आता है जब वह वस्तु समाप्त हो जाती है। यदि बैंक में धन जमा है तो उसे तभी तक चेक के द्वारा भुनाया जा सकता है जब तक वह समाप्त नहीं हो जाता। जब सारा पैसा खत्म हो जाता है तब चेक वापस लौट आता है। यज्ञों द्वारा प्राप्त पुण्य मानो बैंक में संचित धन के समान है। इस पुण्य के बल पर हम स्वर्ग जाते हैं और पुण्य क्षीण होते ही पुनः मर्त्य-लोक में वापस आ जाते हैं।

अतः ऐसे क्षणभंगुर स्वर्ग की कल्पना इन विचारकों को प्रलोभित न कर सकी। ये तो जीवन के सत्य को जानने के लिए आकुल थे। विभिन्न प्रयोगों के बाद इन्होंने देखा कि इस बाह्य संसार में सत्य को खोजना निष्फल है, क्योंकि बाहर सब कुछ क्षणभंगुर है, विनाशी है, सीमित है। सत्य तो वह है जो शाश्वत है, अविनाशी है, असीम है। अतः क्षणभंगुर, विनाशी और सीमित के सहारे शाश्वत, अविनाशी और असीम का अनुसन्धान कैसे किया जा सकता है? अतएव उन्होंने एक नयी

प्रक्रिया पर विचार किया। उन्होंने स्वयं अपने आपको खोज का विषय वनाया। जिस मन के सहारे अपने से वाहर का सारा संसार जाना जाता है, उसी मन को अनुसन्धान का केन्द्र बनाया। और एक दिन उन्होंने सत्य को जान लिया—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्।

(श्वेता० उप० १।३)

—'उन्होंने ध्यानयोग के अनुगत होकर (मन को ही खोज का विषय बनाकर) अपने गुणों में निहित ब्रह्म की शक्ति को देख लिया।' इस प्रकार जगत् की कारणीभूत उस महाशक्ति को जानकर हर्षोल्लसित कण्ठ से वे पुकार उठे—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यते अयनाय ॥

(श्वेता० उप० २।५, ३।८)

—'अहो विश्व के निवासियों! अमृत के पुत्रो! सुनो। दिव्य लोकों में रहने वाले देवताओ, तुम लोग भी सुनो।...मैंने सूर्य के समान चमकीले उस महान् पुरुष को जान लिया है जो समस्त अज्ञान-अन्धकार से

परे है। केवल उसी को जानकर मृत्यु की विभीषिका को पार किया जा सकता है। इससे भिन्न दूसरा रास्ता है ही नहीं।'

यज्ञ के द्वारा हम मृत्यु की खाई को पार नहीं कर सकते। केवल सत्य का ज्ञान ही मृत्यु के चक्र को काट सकता है। इस प्रकार ये चिन्तक सत्य के द्रष्टा बन गये, ऋषि बन गये और इन्होंने कर्म के झमेले में पड़ने वाले लोगों को धिक्कारा। स्वर्ग प्राप्त करने की कामना से यज्ञ करनेवालों को उन्होंने स्वार्थी कहा, मूर्ख कहा—

प्लवा हि एते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तम् अवरं येषु कर्म।
एतत् श्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥
(मुण्डक उप० १।२।५)

—'अरे मूर्खो! अगर तुमने यज्ञ को भवसागर तरने की नौका माना है, तो बड़ी भूल में हो। यह यज्ञरूपी नौका तो जीर्ण-शीर्ण है। पता नहीं, कहाँ जाकर तुम्हें डुबो देगी। इस यज्ञरूपी नौका में जो सोलह ऋत्विज और यजमान एवं यजमान की पत्नी ऐसे अठारह लोग बैठे हैं वे सब नीच कर्म करने वाले हैं और सबके सब मँझधार में डूबेंगे। जो मूढ़ इस यज्ञ को कल्याणकर मानते हैं वे बुढ़ापा और मृत्यु के फन्दे में बारम्बार फँसते है!'

यह एक नया स्वर वेदों में सुनायी पड़ता है। यह

सत्यद्रष्टा का स्वर है, जो सांसारिक सुख नहीं चाहता, जो शाश्वत की चाह रखता है। इस स्वर में आकर्षण है और लोग ऐसे विचारकों और सत्यद्रष्टा ऋषियों के पीछे आने लगते हैं। ये ज्ञानमार्गी कहलाते हैं और कर्म की निन्दा करते हैं। ये जीवन के मूलभूत प्रश्नों पर विचार करते हैं। इनमें निर्लिप्त होने की अजीब क्षमता है। संसार के आकर्षण इनके लिए सत्य के आकर्षण के समक्ष फीके पड़ जाते हैं। वेदों में इनके विचार उपनिषदों के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये वेदान्त के नाम से भी पुकारे जाते हैं। जहाँ पर वेद का, ज्ञान का अन्त हो जाय, वह वेदान्त। इसी को वेदों का ज्ञानकाण्ड भी कहा गया है।

कालान्तर में वेदों के इन दो भागों में—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में—बड़ा झगड़ा मचता है। इससे भारत के समाज में विष फैलता है। कर्म और ज्ञान में समन्वय का प्रथम प्रयास ईशावास्य उपनिषद् द्वारा किया जाता है। वहाँ यह बताया जाता है कि यद्यपि ज्ञान ही सत्य की चरम अवस्था है तथापि उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मनुष्य एकबारगी अपने स्वार्थों को, अपनी दुर्बलताओं को झटककर दूर नहीं फेंक सकता। यदि हम अपेक्षा करें कि मनुष्य एकदम अपनी वासनाओं का परित्याग कर सत्य की खोज के लिए लग जाये, तो यह भूल है। स्वार्थी मनुष्य धीरे धीरे ही सत्य की ओर उन्मुख होगा। स्वार्थयुक्त कर्म से क्रमशः वह निःस्वार्थ

कर्म करना सीखेगा और इस प्रकार ज्ञान को धारण करने की योग्यता प्राप्त करेगा। ईशावास्योपनिषद् में ज्ञान और कर्म के समन्वय का जो बीज दिखायी देता है, वही अंकुरित और पल्लवित होकर भगवद्गीता में विशाल वटवृक्ष के रूप में परिवर्तित हो गया है। गीता ने मनुष्य के दुराग्रह को, उसकी हठवादिता को दूर करने का प्रयास किया है। समस्त कर्मों को छोड़कर जंगल में जाने का भी प्रयोजन हो सकता है। पर जंगल में जाने से ही कर्म छूट नहीं जाते। असल में संसार हमसे बाहर नहीं है, वह हमारे मन में है। जब तक मन संसार में लिपटा रहता है तब तक किसी भी उपाय से संसार से छुटकारा नहीं मिल सकता। गीता हमें इसके लिए एक उपाय बताती है। वह हमें 'कर्मयोग' रूपी ऐसा रसायन प्रदान करती है जिससे हम संसार में रहकर भी उसके पाशों में नहीं बँधते। यह रसायन कौन सा है यह हम अपनी अगली चर्चाओं में विचार करेंगे।

(क्रमशः)

•

कोई व्यक्ति दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता। या तो वह एक से घृणा करेगा और दूसरे से प्रेम करेगा या वह एक की सेवा करेगा और दूसरे का साथ छोड़ देगा। तुम ईश्वर और शैतान दोनों की सेवा नहीं कर सकते।

— ईसा

बलराम बोस

डा. नरेन्द्रदेव वर्मा

युगावतार श्रीरामकृष्ण अपार भावमय थे। जगन्माता के पादपद्मों में पूर्णतः निमग्न होकर वे उनके संसार का आनन्द ग्रहण करना चाहते थे। जगन्माता भी अपने इस प्रिय पुत्र की इच्छा की पूर्ति तत्काल कर दिया करती थीं। एक बार उन्होंने जगदम्बा से प्रार्थना की थी, "माँ, मुझे नीरस साधु न बनाना। मुझे सरस रखना।" तब माता ने उन्हें बताया था कि उन्होंने उनका रसद जुटाने के लिये चार रसददारों को प्रेरित किया है। ये चार रसददार थे मथुरानाथ विश्वास, शम्भुनाथ मल्लिक, सुरेन्द्रनाथ मित्र तथा बलराम बोस, जिन्होंने कालक्रम से युगावतार की सेवा की थी। प्रथम रसददार मथुरानाथ विश्वास श्रीरामकृष्णदेव के कलकत्ता आगमन से लेकर उनके साधना-काल के कुछ बाद तक उनकी सेवा में नियुक्त रहे। मथुरानाथ के देह-त्याग के कुछ काल बाद से शम्भुनाथ मल्लिक उनकी सेवा में उपस्थित हुए और केशवचन्द्र सेन प्रभृति भक्तों के आगमन तक उनकी सेवा करते रहते। तीसरे सुरेन्द्र नाथ मित्र थे जिन्हें श्रीरामकृष्ण अर्ध-रसददार कहा करते थे और जो श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण के छः वर्ष पूर्व तक उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते

रहे। चौथे रसददार बलराम बोस थे जो प्रथम दर्शन के दिन से लेकर अपनी अन्तिम साँस तक युगावतार और उनके लीला-सहचरों की सर्वविधि सेवा करते रहे।

एक बार श्रीरामकृष्णदेव के मन में श्री चैतन्य महाप्रभु के दर्शन करने की इच्छा जगी। वे उन्हें हरि-नाम-संकीर्तन में विभोर नगर-प्रदक्षिणा करते हुए देखना चाहते थे। जगन्माता के अनुग्रह से भावसमाधि में उन्हें तदनुरूप दर्शन प्राप्त हुआ। वह बड़ा अद्भुत दृश्य था। उन्होंने देखा कि अपार जनसमुदाय ईश्वर की नाम-माधुरी में विभोर हो उठा है। दैवी भाव की तरंगें उठ रही हैं और उन तरंगों के मध्य श्री चैतन्य महाप्रभु ईश्वरीय प्रेम के जीवन्त विग्रह के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने देखा कि भगवन्नाम के सुधा-सागर में आलोड़ित होता हुआ जनसमाज दक्षिणेश्वर स्थित पंचवटी से होता हुआ उनके कमरे की ओर आ रहा है। श्रीगौरांग के उस कीर्तन-दल के अनेक व्यक्तियों की मुख-छबि उनके स्मृति-पटल पर चिर अंकित हो गयी थी तथा उनमें बलराम का भक्ति-ज्योतिपूर्ण स्निग्धोज्ज्वल मुख विशेष रूप से उन्हें दृष्टिगत हुआ था। जिस दिन बलराम प्रथम बार दक्षिणेश्वर पहुँचे और श्रीरामकृष्ण देव को प्रणाम किया, श्रीरामकृष्ण तत्काल पहचान गये कि यह वही व्यक्ति है। तभी तो बलराम के तीसरी बार दक्षिणेश्वर पहुँचने पर वे अपने भानजे हृदय से कह उठे थे,

"ओ रे हृदू, देख तो यह कौन आया है? अरे, यह तो वही व्यक्ति है जिसे मैंने भावसमाधि में चैतन्यदेव के साथ कीर्तन करते हुए देखा था!"

श्री बलराम बोस ने प्रख्यात वैष्णव परिवार में जन्म ग्रहण किया था। उनके प्रपितामह श्री कृष्णराम बोस हुगली के आँटपुर ग्राम से व्यवसाय हेतु कलकत्ता आये और उन्होंने प्रचुर धनोपार्जन किया। वे बड़े धार्मिक और उदार थे। उन्होंने कलकत्ते में काली-मंदिर तथा शिवमंदिर का निर्माण किया था और भीषण दुर्भिक्ष के समय लक्षाधिक रुपयों का दान किया था। कृष्णराम बोस के पुत्र गुरुप्रसाद भी परम वैष्णव थे। उन्होंने अपने घर में श्री राधाश्यामचाँददेव जी की प्रतिष्ठा की थी। इसी से उनके मुहल्ले का नाम श्याम-बाजार हो गया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने वृन्दावन में देवायतन और कुंज का निर्माण भी किया था जो आज 'कालाबाबू का कुंज' के नाम से विख्यात है। गुरु-प्रसाद के विन्दुमाधव और राधामोहन दो पुत्र थे। बिन्दुमाधव और उनके पुत्रों ने पैतृक सम्पत्ति में पर्याप्त अभिवृद्धि की किन्तु राधामोहन वीतरागी प्रकृति के व्यक्ति थे और साधन-भजन में लीन रहा करते थे। वे वृन्दावन के 'कालाबाबू का कुंज' में एकान्तवास करते ईश्वर का नामोच्चार करते रहते थे। राधामोहन के जगन्नाथ, बलराम और साधुप्रसाद—ये तीन पुत्र और विष्णुप्रिया और हेमलता—ये दो कन्याएँ थीं।

बलराम का जन्म सन् १८४२ के दिसम्बर मास में हुआ था। अपने पिता के समान बलराम भी परम वैष्णव थे और प्रतिदिन चार-पाँच घंटे पूजा-पाठ में बिताया करते थे। वैष्णव-मत के अहिंसा-धर्म की धारणा उनमें इतनी गहरी थी कि वे कीट-पतंग तक चोट नहीं पहुँचा सकते थे। बलराम जीव-दया के जीवन्त विग्रह थे। उन्होंने जमींदारी की देखरेख का सारा उत्तरदायित्व अपने चचेरे भाई निताईचरण को सौंप दिया था। एक तो बलराम की प्रकृति इतनी सात्विक थी कि वे इस निर्मम उत्तरदायित्व को निभाने में असमर्थ थे और दूसरे शारीरिक दृष्टि से वे प्रायः अस्वस्थ रहा करते थे। उन्हें युवावस्था में ही अजीर्ण की व्याधि हो गई थी। यह व्याधि लगभग बारह वर्षों तक उन्हें सालती रही। इस अवधि में वे श्रीजगन्नाथपुरी के अपने पैतृक मकान में रहा करते थे और केवल दूध पिया करते थे। बलराम की वीतरागिता क्रमशः बढ़ती जा रही थी। इससे उनके चचेरे भाई घवड़ा उठे और उनसे स्थायी रूप से कलकत्ते में निवास करने का आग्रह किया। बलराम पुरी से अन्यत्र जाना पसन्द नहीं करते थे पर अपने चचेरे भाइयों के अत्यधिक आग्रह के कारण उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। इसी समय उनकी भेंट दक्षिणेश्वर के महान् सन्त से हुई जिन्होंने बलराम के जीवन की दिशा ही बदल दी और जिनके आकर्षण-पाश में बँधकर बलराम स्थायी रूप से कलकत्ता में निवास करने लगे।

अपने पुरी-निवास के समय ही बलराम ने अखबारों में श्रीरामकृष्ण देव के सम्बन्ध में केशवचन्द्र सेन जैसे दिग्गजों के लेख पढ़े थे। उनके कलकत्ते के मकान में कार्य करने वाले रामदयाल नामक ब्राह्मण ने भी पत्र में श्रीरामकृष्ण देव की उच्च अवस्था के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिखा था और उनके दर्शन करने का आग्रह किया था। जब बलराम ने जाना कि दक्षिणेश्वर में एक ऐसे सन्त रहते हैं जिन्हें सदैव ईश्वरीय आवेश हो आता है और जो बार-बार भाव-समाधि में लीन हो जाते हैं तो उनके मन में उनके दर्शन की जिज्ञासा बलवती हो गयी। फलतः कलकत्ता पहुँचने के दूसरे ही दिन वे दक्षिणेश्वर के लिये रवाना हो गये।

उस दिन श्रीरामकृष्ण देव ने मुरमुरा खाने के लिये केशवचन्द्र सेन को सदल-बल दक्षिणेश्वर आमंत्रित किया था। उनका कमरा अभ्यागतों से ठसाठस भरा हुआ था। जब सब लोग मुरमुरा खाने के लिये मन्दिर-प्रांगण की ओर चले गये तब एकान्त पाकर श्रीरामकृष्ण देव ने बलराम से पूछा-"अच्छा अब बताओ तुम मुझसे क्या कहना चाहते हो ?" बलराम ने प्रश्न किया- "महाराज, क्या ईश्वर का अस्तित्व है ?" श्रीरामकृष्ण तत्काल बोले- "वे केवल अस्तित्ववान् ही नहीं हैं बल्कि वे स्वयं को ऐसे व्यक्ति के सामने प्रकट भी कर देते हैं जो अत्यन्त निष्ठा से उन्हें पुकारता है। जिस प्रकार लोग अपने पुत्रों और नाती-पोतों से प्रेम करते हैं उसी प्रकार

का घनिष्ठ सम्बन्ध ईश्वर के साथ भी स्थापित करना चाहिये ।" युगावतार के इस कथन से बलराम को एक नया आलोक मिला । यद्यपि वे नियमपूर्वक वैष्णवमत सम्मत जप-ध्यान किया करते थे पर वे इतनी आन्तरिकता के साथ ईश्वर की भक्ति नहीं कर पाये थे । पूरी रात उनके मन पर यह विचार छाया रहा । दूसरे दिन प्रातःकाल वे पुनः श्रीरामकृष्ण देव के पास पहुँचे ।

श्रीरामकृष्ण देव ने बड़ी आत्मीयता से बलराम का स्वागत किया और अपने समीप खींच कर वे बोले, "सुनो, जगन्माता ने मुझे बता दिया है कि तुम अपने ही जन हो । तुम माता के रसददारों में से एक हो । यहाँ का बहुत कुछ तुम्हारे घर में जमा है । कुछ खरीद कर यहाँ भिजवा देना ।" श्रीरामकृष्ण देव की वाणी में गहरी आत्मीयता भरी हुई थी । बलराम को श्रीरामकृष्ण के प्रति अत्यन्त निकटता का अनुभव हुआ । वे सोचने लगे कि इतना मीठा व्यवहार और इतनी ऊँची अवस्था किसी सामान्य व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं है; साक्षात् श्री गौरांग ही प्रेम वितरण करने के लिये श्रीरामकृष्ण देव के रूप में अवतीर्ण हुए हैं और वे स्वयं जन्म-जन्मान्तरों से उनके सेवक के रूप में उनके साथ आये हैं । बलराम ने निश्चय किया कि दक्षिणेश्वर भेजी जाने वाली वस्तुओं की खरीदी वे स्वयं अपनी देखरेख में करेंगे, और उसी दिन से जग-

न्माता के इस अप्रतिम रसददार ने अपना कार्यभार ग्रहण कर लिया ।

बलराम का परिवार निष्ठावान और धार्मिक था। उनके घर में नित्यप्रति देव और द्विज की सेवा होती थी । यही कारण था कि श्रीरामकृष्ण देव जो अन्य किसी अब्राह्मण के घर पर पक्वान्न ग्रहण नहीं करते थे, बलराम के घर का अन्न बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण करते थे । उन्होंने कहा था, "बलराम का अन्न पवित्र है । उसके घर में वंशानुक्रम से देवों और सत्पुरुषों की सेवा होती आ रही है । उसके पिता सर्वस्व त्यागकर वृन्दा-वन में हरिनाम ले रहे हैं । उसके अन्न को मैं यथेष्ट मात्रा में ग्रहण कर सकता हूँ । मुख में कौर रखते ही वह आप से आप नीचे उतर जाता है ।"

बलराम प्रतिवर्ष अपने घर में श्री ज़गन्नाथ जी की रथयात्रा का पर्व मनाते थे । उसमें धूमधाम की अपेक्षा भक्तिभाव की अधिक प्रधानता रहती थी । उनके घर एक छोटा सा रथ था जिसमें श्री जगन्नाथ जी को स्थापित कर बरामदों में चारों ओर घुमाया जाता था । इसके साथ ही भजन-कीर्तन भी चलता रहता था और फिर भक्तों को भोगप्रसाद वितरित किया जाता था । श्रीरामकृष्ण देव प्रति वर्ष इस अवसर पर वहाँ उप-स्थित रहते थे जिससे कलकत्ता के शुद्ध-बुद्ध भक्तगणों को भी उनका दर्शन प्राप्त करने का सुयोग मिल जाता था ।

श्रीरामकृष्ण देव के प्रति बलराम के परिवार के

सभी लोगों के हृदय में अतीव श्रद्धा-भक्ति थी इसे लक्ष्य कर श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था, "बलराम के परिवार के सभी लोग एक सुर में बँधे हैं।" बलराम की पत्नी कृष्णभाविनी स्वामी प्रेमानन्द जी की बहन थीं तथा ठाकुर की उत्कट भक्त थीं। श्रीरामकृष्ण देव उन्हें श्री राधा की अष्ट सखियों में प्रधान सखी कहते थे। बलराम की दोनों कन्याएँ भुवनमोहिनी और कृष्णमयी तथा पुत्र रामकृष्ण भी ठाकुर पर असीम श्रद्धा रखते थे।

जिस प्रकार बलराम का समूचा परिवार ठाकुर का भक्त था उसी प्रकार ठाकुर भी निरन्तर बलराम के परिवार के कल्याण के लिये सचेष्ट रहते थे। एकबार बलराम की पत्नी रुग्ण हो गयीं। तब श्रीरामकृष्ण देव ने श्रीमाँ सारदा से कहा कि वे बलराम के घर पर जाकर उसे देख आयें। उन दिनों यातायात के साधन विरल थे। यद्यपि श्रीमाँ को गाँवों में पैदल चलने की आदत थी पर कोलाहलपूर्ण कलकत्ते की सड़कों पर पैदल चलने में उन्हें अत्यन्त संकोच होता था। दूसरे, श्री रामकृष्ण देव तब तक युगावतार के रूप में प्रख्यात हो गये थे तथा श्रीमाँ को उनकी प्रतिष्ठा का ध्यान भी रखना पड़ता था। ठाकुर के प्रस्ताव को सुनकर उन्होंने कहा, "मैं भला कैसे जा सकती हूँ। यहाँ तो कोई साधन ही नहीं है।" पर श्रीरामकृष्ण देव ने इस बात की तनिक भी चिन्ता न करते हुए कहा, "क्यों, तुम अवश्य वहाँ जाओगी। पैदल जाना पड़े तो भी। मेरे बलराम का

संसार उजड़ रहा है और तुम कहती हो कि साधन की व्यवस्था न होने पर तुम न जा सकोगी।"

भक्तराज बलराम अत्यन्त विनीत थे तथा उनमें आत्मगोपन की प्रवृत्ति चरमसीमा पर पहुँची हुई थी। जब वे ठाकुर और उनके भक्तों को अपने घर पर भोजन के लिए आमंत्रित करते तो स्वयं दास के समान खड़े होकर उन्हें भोजन कराते। उन्हें देखकर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता था कि वे उस घर के स्वामी हैं।

एक अन्य घटना से उनकी चरम विनयशीलता का सुन्दर परिचय मिलता है। सन् १८८२ के अगस्त मास में एक दिन श्रीरामकृष्ण प्रख्यात परोपकारी और समाज सुधारक ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से मिलने कल-कत्ता पहुँचे। बड़ी देर तक विद्यासागर से बातें होती रहीं। रात क्रमशः गहरी होने लगी और श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर लौटने के लिये उठ खड़े हुए। विद्यासागर हाथ में दीपक लेकर उन्हें रास्ता बताने के लिये आगे-आगे चलने लगे। मकान के चारों ओर चौहद्दी बनी हुई थी और दरवाजा कुछ दूरी पर था। जब श्रीराम-कृष्ण दरवाजे से बाहर निकले तब उन्होंने देखा कि वहाँ पैंतीस-छत्तीस वर्ष का भद्र पुरुष खड़ा है। उसने श्वेत परिधान धारण किये हैं तथा सिर पर सिक्खों के समान पगड़ी है। उसकी दाढ़ी बड़ी लम्बी है। उसने मोजा तो पहन रखा है पर उत्तरीय उसके कंधों पर नहीं हैं। ठाकुर को देखते ही उसने उन्हें प्रणाम किया। उसके

उठने पर ठाकुर ने उन्हें पहचान लिया और विस्मय भरे स्वर में कहा, "अरे बलराम ! तो तुम हो ! इतनी रात गये यहाँ कैसे ?" बलराम ने उत्तर दिया, "मैं बहुत पहले यहाँ आ गया था।" ठाकुर ने पुनः पूछा, "तो तुम अन्दर क्यों नहीं आ गये ?" बलराम ने कहा, "महाराज, वहाँ सब आपकी बातें सुन रहे थे। मेरे पहुँचने से उन्हें बाधा पहुँचती।" ठाकुर बलराम की भावना को समझ कर बड़े द्रवित हो गये और उनसे कुछ बातें करके दक्षिणेश्वर चले गये।

युगावतार के पुण्य-संसर्ग में बलराम आध्यात्मिकता के पथ पर द्रुत गति से बढ़ने लगे। उनकी पूर्व की आचार-निष्ठ साधना आत्मसमर्पणमयी भावना में बदल गयी। वे अपना सर्वस्व प्रभु के चरणों में समर्पित कर दासवत् संसार के कर्त्तव्य-कर्म करने लगे। उनका अधिक समय अब ठाकुर के समीप दक्षिणेश्वर में व्यतीत होने लगा। उनकी अहैतुकी कृपा से बलराम की ईश्वरविषयक धारणा और अहिंसा की मान्यता में श्रेयस्कर परिवर्तन घटित हो गया। पहले वे ध्यान-जप करते समय मच्छरों और खटमलों के काटने पर भी उन्हें नहीं मारा करते थे। वे समझते थे कि ऐसा करना पाप होगा। एक दिन उनके मन में यह विचार उठा कि ईश्वरचिन्तन करते समय व्याघात उत्पन्न करने वाले मच्छरों को मारना उन्हें बचाने की चिन्ता करते रहने से कहीं अधिक अच्छा है। पर उनके मन में अहिंसा की

पौराणिक धारणा इतनी बद्धमूल थी कि वे सहसा इस नये विचार को अपना नहीं सके। इस सम्बन्ध में ठाकुर से पूछने के लिये वे दक्षिणेश्वर पहुँचे। वहाँ ठाकुर के कमरे में पहुँचकर उन्होंने एक अद्‌भुत दृश्य देखा। देखा कि ठाकुर अपने तकिये से खटमलों को निकालकर मार रहे हैं। बलराम के प्रणाम करने पर उन्होंने कहा, "तकिये में बहुत से खटमल हो गये हैं। रात-दिन काटते रहते हैं और सोने भी नहीं देते। इसलिये इन्हें मार रहा हूँ।" इसके बाद बलराम को कुछ भी पूछना बाकी नहीं रहा। उनके समस्त सन्देह अन्तर्यामी श्रीरामकृष्ण देव की कृपा से क्षण मात्र में विलीन हो गये। श्रीरामकृष्ण विलक्षण गुरु थे। वे अपने प्रत्येक शिष्य को उसकी मानसिक क्षमता के अनुरूप आध्यात्मिक विकास का पथ प्रदर्शित कर देते थे। उनकी शिक्षा अप्रत्यक्ष होते हुए भी अतिशय प्रभावशाली होती थी।

ठाकुर की देव-दुर्लभ कृपा से बलराम का मन उदार हो गया और वैष्णवों के नियमानुगत आचार स्वयमेव छूटने लगे। यह देखकर बलराम के कतिपय वाह्याचारनिष्ठ स्वजन-सम्बन्धी शंकित हो उठे और सोचने लगे कि बलराम आचारहीन हो गये हैं। दूसरे, वे यह नहीं चाहते थे कि बलराम घर की महिलाओं को दक्षिणेश्वर के पुजारी के पास ले जायें। इसलिये पहले उन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय के दिग्गजों को बलराम को समझाने के लिये प्रेरित किया। पर जब बलराम पर

उनके उपदेशों का कोई प्रभाव न पड़ा तो वे स्वयं ठाकुर की निन्दा करने लगे। अन्त में हारकर उन्होंने बलराम के चचेरे भाई को यह लिख भेजा कि बलराम आचारहीन हो गये हैं अतः वे बलराम को कोठार वापस बुला लें। जब बलराम को अपने चचेरे भाई हरिवल्लभ का पत्र मिला कि वे उनसे आवश्यक चर्चा करने कलकत्ता आ रहे हैं, तब वे बड़े चिन्तित हुए। उन दिनों श्रीरामकृष्ण रुग्ण रहा करते थे और बलराम उनसे अधिक समय के लिये अलग नहीं होना चाहते थे। पर उन्होंने निश्चय किया कि भले ही उनके चचेरे भाई कुछ भी क्यों न कहें, पर वे ठाकुर के निकट ही रहेंगे।

सन् १८८५ के अन्त में हरिवल्लभ कलकत्ता पहुँचे। उस दिन बलराम जब ठाकुर के पास आये तब ठाकुर ने उन्हें बड़ा चिन्तित पाया। जब बलराम ने उन्हें हरिवल्लभ के आने की सूचना दी तब उन्होंने कहा, "वह कैसा आदमी है? क्या तुम उसे एक दिन यहाँ ला सकते हो?" बलराम ने बताया कि ऐसे तो वे अत्यन्त शिष्ट हैं पर उनके कहने पर शायद ही वे वहाँ आएँ। तब ठाकुर ने हरिवल्लभ के बाल्यबन्धु गिरीशचन्द्र घोष को उन्हें बुला लाने को कहा। गिरीश दूसरे दिन मध्याह्न में हरिवल्लभ को लेकर ठाकुर के पास पहुँचे। उस दिन ठाकुर भावोद्दीप्त अवस्था में ईश्वरीय चर्चा कर रहे थे। रह-रहकर वे समाधि में डूब जाया करते थे। उनकी आध्यात्मिक वार्ता को सुनकर कमरे

में उपस्थित दो-तीन युवक-भक्तों को भी भाव-समाधि लग गयी थी। हरिवल्लभ उस अलौकिक वातावरण में तन्मय हो उठे। वे बड़ी देर तक युगावतार को अतृप्त नेत्रों से देखते रहे और उनकी अमृत-वाणी का पान करते रहे। सन्ध्या बीतने लगी थी। अतः हरिवल्लभ बड़े बेमन से उठे और उन्होंने ठाकुर से विदा ली। कहना न होगा कि इसके वाद से हरिवल्लभ ठाकुर के अनुरागी भक्त बन गये। ठाकुर के मना करने पर भी, अपनी कुल-प्रतिष्ठा की ओर ध्यान न देकर, वे ठाकुर के चरणों की धूलि आग्रहपूर्वक लेकर अपने माथे पर लगाया करते थे। इस प्रकार बलराम की एक बड़ी वाधा अपने आप दूर हो गयी।

सन् १८८२ से लेकर १८८६ तक बलराम का घर श्रीरामकृष्णदेव और उनके भक्तों के लिये सदैव खुला रहा। ठाकुर दक्षिणेश्वर को काली का दुर्ग कहते थे और बलराम के घर को माता का दूसरा बैठकखाना वताते थे। श्रीरामकृष्ण जव भी कलकत्ता आते, तव निश्चित रूप से बलराम के घर पधारते थे। सन् १८८५ की रथयात्रा के पर्व पर ठाकुर ने अपने नियम को तोड़कर वहाँ रात्रियापन भी किया था। जब श्रीराम-कृष्ण गले की व्याधि से पीड़ित थे और उन्हें जलवायु-परिवर्तन की दृष्टि से कलकत्ता लाया गया था, तव पहले सात दिन उन्होंने बलराम के घर पर ही बिताये थे। उन दिनों देवमानव के दर्शनार्थ भक्तों की भीड़

उमड़ पड़ी थी। इसको लक्ष्य कर 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' के रचयिता श्री महेन्द्रनाथ गुप्त ने लिखा था, "बलराम ! तुम धन्य हो ! तुम्हारा घर आज ठाकुर का प्रधान कर्मक्षेत्र बन गया है। उन्होंने यहाँ कितने नये-नये भक्तों को आकर्षित करके प्रेमसूत्र में बाँधा है। भक्तों के साथ कितना नाचा-गाया है-- मानो श्रीगौरांग ने श्रीवास मन्दिर में प्रेम की हाट बसा दी हो ! दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में बैठकर वे रोया करते, अपने अन्तरंग भक्तों को देखने के लिये छट-पटाते रहते। माँ से कहते, 'यदि वे लोग मेरे पास नहीं आ सकते, तो माँ, तुम मुझे ही उनके पास ले चलो।' इसीलिये वे बलराम के घर दौड़-दौड़कर आते हैं। जब आते हैं तब बलराम से कहते हैं, 'जाओ, नरेन्द्र को, भवनाथ को, राखाल को बुला लाओ।' इस प्रकार न जाने कितनी बार यहाँ, इस प्रेम के दरबार में, आनन्द की लीला हुई है !"

बलराम महान् सेवाभावी थे। वे ठाकुर और उनके भक्तों की सेवा करने के लिये सदैव सचेष्ट रहते थे। पर उनकी आय बड़ी सीमित थी। उनके चचेरे भाई प्रतिमास उन्हें जो कुछ भेज देते उसी में उन्हें निर्वाह करना पड़ता था। अत: द्रव्य-व्यय करते समय वे विशेष सावधान रहते थे। इसलिए कुछ लोग उन्हें कृपण समझ लेते थे। पर उनकी कृपणता का उद्देश्य अधिका-धिक साधु-सेवा ही था। श्रीरामकृष्ण बलराम की इस

महती भावना से परिचित थे, पर कभी-कभी बलराम की कृपणता को भी हास्य का विषय बना लेते थे। एक दिन उन्होंने नरेन्द्रनाथ को बलराम के घर पर गाने के लिये कहा। नरेन्द्र बोले–"महाराज, वहाँ तो कोई साज नहीं है, वहाँ गाना कैसे होगा ?" ठाकुर ने कहा– "बेटा ! जैसा है वैसा ही करना होगा'। गा सको तो गाना। वहाँ बलराम का बन्दोबस्त है न ! बलराम ने कहा है, 'महाराज, नौका में आइयेगा। यदि वह न मिले तो गाड़ी में आइयेगा।' भोज पर बुलाया है तो वह आज दोपहर भर नचाएगा।" ठाकुर की बात सुनकर सब भक्त हँसने लगे। वे कहते गये– "फिर राम खोल बजायेगा और हम सब नाचेंगे। राम तो बुद्धू है। (सब ठठाकर हँसते हैं।) बलराम का कहना है कि तुम खुद गा सकते हो तो गाओ, नाचो और आनन्द करो।" इसी प्रकार एक बार जब स्वामी अद्भुतानन्द जी ने बलराम को सकरी चारपाई पर सोते हुए देखा तब उनसे बड़ी चारपाई खरीदने के लिये कहा। बलराम ने उत्तर दिया, "माटी की देह तो माटी में मिल जायेगी। पर खाट खरीदने से बचा पैसा साधु-सेवा में लग जायेगा।"

श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण के उपरान्त उनके शिष्य बराहनगर मठ में रहने लगे। तब भी बलराम उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करते थे। एक दिन उन्हें पता चला कि उनके गुरुभाई अर्थाभाव के कारण भात-शाक खाकर पेट भर रहे हैं।

तव उन्हें बड़ी व्यथा हुई और वे अपने घर पर भी ऐसा ही भोजन करने लगे। बाद में उन्होंने बराहनगर मठ के रसोइये को ताकीद कर दी कि वह नित्यप्रति वहाँ की आवश्यकताएँ उन्हें वताता रहे।

जब वे मृत्युशय्या पर थे तव स्वामी विवेकानन्द अपना प्रवास स्थगित कर बनारस से कलकत्ता उनके समीप लौट आये थे। गुरुभाइयों की अथक चेष्टा वलराम बोस को नहीं बचा सकी। उनके दिन पूरे हो गये थे। जगदम्वा के रसददार ने अपने कर्त्तव्य का निर्वाह भलीभाँति कर दिया था। इसलिये जगन्माता ने अपने इस प्रिय पार्षद को १३ अप्रैल सन् १८९० को अपने पादपद्मों में बुला लिया।

●

कवि विवेकानन्द

प्राध्यापक कनक तिवारी

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक भारत के निर्माताओं में सर्वप्रमुख थे। उनकी प्रतिभा असाधारण और सर्वतोमुखी थी। उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से नये भारत के इतिहास को सर्वाधिक प्रभावित किया है। वे भारतीय संस्कृति की व्यापक मानवीय संवेदना के सर्वाधिक सशक्त प्रवक्ता थे। उनके जीवन एवं उपदेशों में उनका सत्यद्रष्टा और गुरु-रूप उद्घाटित होता है। बीसवीं सदी के इतिहास में उन्होंने भारत की आध्यात्मिक, राष्ट्रीय, कलात्मक एवं सांस्कृतिक चेतना को सर्वप्रथम झकझोरकर जगाया और उसे पौरुष के नये प्रतिमान और अभिनव अर्थ प्रदान किये। उन्होंने पराधीन भारत की डूबती हुई क्रियाशीलता को दिशा प्रदान की और देश को अन्धी खाइयों के कगार पर जाने से बचा लिया। डा० राधाकृष्णन के अनुसार वे 'भारतीय पुनर्जागरण के एक महान् नेता' थे।

स्वामी विवेकानन्द के निकटतम अनुयायियों एवं आधुनिक इतिहास के प्रबुद्ध पाठकों के अतिरिक्त अन्य लोग इस बात से अनभिज्ञ ही हैं कि वे एक उत्कृष्ट कवि भी थे। परम्परागत अर्थ में उन्हें 'कवि' की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि काव्य-सृजन उनका मूल प्रयोजन कभी नहीं रहा। परन्तु उनके काव्य में एक महान् कवि की आत्मा की स्पष्ट अनुगूँज है। उन्होंने अंग्रेजी, बँगला,

संस्कृत और हिन्दी में (कुल एक ही) तीन दर्जन के लगभग कविताएँ लिखी हैं। उनकी अधिकांश कविताएँ हिन्दी में स्व० निराला तथा श्री सुमित्रानन्दन पंत द्वारा अनूदित की गयी है। कुछ रचनाओं का अनुवाद श्री श्यामसुन्दर खत्री तथा आचार्य विनयमोहन शर्मा द्वारा भी किया गया है। अनुवाद में मूल की सी ताजगी, उदात्तता एवं आकर्षण प्रस्तुत करना एक गुरुतर दायित्व है। अनुवादकों ने वाकई बड़े चाव तथा तफसील से इस अमर गायक की आत्मा का स्वर सँजोये रखने का प्रयास किया है। स्वामीजी का अमर काव्य वैसे भी अनुवाद के कृत्रिम वन्धनों से परे है। उनका कथ्य इतना महत्वपूर्ण और सर्वसुलभ है कि भाषा की दीवारें उसका सुरभित संदेश अपनी बाहों में नहीं घेर सकतीं। स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों ने हमें एक ओर जहाँ आजादी के इस नये युग के लिये तैयार किया है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपने काव्य में मानव की मुक्ति की महानता के गीत गाये हैं।

दैवी प्रेरणा ही स्वामी विवेकानन्द की कविताओं का मूल-प्रस्रवण है। गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति उनके काव्य की पृष्ठभूमि है। धन, लोभ, यश-लिप्सा तथा दुर्दान्त काम की माया से वे सर्वथा निर्लिप्त थे। वे एक सर्वमय शाश्वत आत्मा की प्रदीप्ति अपने अन्तर में अनुभव करते थे। उनकी मान्यता थी कि पृथ्वी पर यदि कुछ अनिवार्य है, तो वह है मृत्यु। मनुष्य और उसकी गति-

विधियाँ, इतिहास, संस्कृति और सभ्यता सभी कुछ नाशवान हैं। अतएव स्वामी विवेकानन्द ने शरीर की निस्सारता विषयक अपने विचारों का प्रवर्तन वेदान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर किया। सहस्रद्वीपोद्यान, न्यूयार्क में रचित 'संन्यासी का गीत' नामक कविता में उन्होंने अपने मर्मस्पर्शी भावों का प्रकाशन इस तरह किया—

"स्वाधीन मुक्त तुम, जाओ, पर्यटन करो पृथ्वी पर,
अज्ञान-गर्त-पतितों का उद्धार करो तुम सत्वर,
माया-आवरण-तिमिर में जो पड़े वेदना सहते,
तुम उन्हें उबारो जाकर, जो मोह-नदी में बहते।"

स्वामी विवेकानन्द ने शाश्वत शान्ति के कक्षों की झलक पायी थी, इसलिये उनका विश्वास था कि इन सांसारिक संघर्षों के समुद्र को चीरकर अनन्त की ओर अग्रसर होना सम्भव है। उनकी दृष्टि काल और देश की झूठी सीमाओं से कभी धूमिल नहीं हुई। परोपकार-रत, बन्धनमुक्त, निःस्वार्थ विवेकानन्द की खोज परमानन्द तक पहुँच गयी थी। अपनी अपरिमित शक्तियों के प्रति उनमें असीम आस्था थी। उनकी गहरी से गहरी व्यथाओं में भी प्रकाश की आत्मा का निवास था। न्यूयार्क में सन् १८९५ के वसन्त में लिखित 'मेरा खेल खत्म हुआ' नामक कविता में उनकी आत्मा की यह तड़प कितनी स्पष्ट है—

"ओ माँ! प्रकाश के द्वार खोलो,

माँ ! तुम्हारा थका हुआ बालक हूँ मैं !
मैं घर आना चाहता हूँ माँ! घर आना चाहता हूँ!
अब मेरा खेल समाप्त हो चुका ।"

स्वामी विवेकानन्द राष्ट्रवादी कवि भी थे । उन्होंने देश की राजनैतिक, सांस्कृतिक गिरावट के विरुद्ध नये सिरे से जेहाद छेड़ा । वे राष्ट्र की संघर्षधर्मा चेतना को दृढ़ दार्शनिक आधारों पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे । उनकी यह स्पष्ट मान्यता थी कि पराधीनता सर्वाधिक गर्हित मनोवैज्ञानिक स्थिति है, अतएव हर कीमत पर उससे छुटकारा पाना श्रेयस्कर है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के शैशवकाल में ही उन्होंने यह उद्घोषणा की थी–

"आदर गुलाम पाये या कोड़ों की मारें खाये,
वह सदा गुलाम रहेगा कालिख का तिलक लगाये,
स्वातंत्र्य किसे कहते हैं-- वह जान नहीं है पाता
स्वाधीन सौख्य जीवन का–उसकी न समझ में आता ।"

एक उच्चतर आध्यात्मिक सन्दर्भ में कहे गये स्वामी विवेकानन्द के इन शब्दों ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में एक महान् वैचारिक क्रान्ति पैदा की । देश के समस्त वरिष्ठ राजनीतिक योद्धाओं ने उसे एक "महान् चुनौती" के रूप में स्वीकार किया और अन्ततः इन प्राणवान् विचारों को कर्मठ क्रियाशीलता की भाषा में अनुवादित किया गया । यह महान् उद्घोषणा क्या हमारे राष्ट्रीय संकल्प के साहसिक अनुष्ठान का पूर्व

घोष नहीं है ?

स्वामी विवेकानन्द भारत की सांस्कृतिक गरिमा के प्रति पूरी तरह सचेत थे। वे औसत भारतीय की नैसर्गिक आध्यात्मिकता के प्रति आश्वस्त थे। देश की वर्तमान दशा उन्हें विचलित तो अवश्य करती थी, परन्तु उनका स्वर एक निराश बुद्धिजीवी का नहीं था। वे एक आस्थावान् कवि थे। ज्वलन्त समस्याओं के प्रति उनके दृष्टिकोण में पलायनवादी का भाव नहीं था। अपने सम्पूर्ण जीवन को उन्होंने राष्ट्र की सेवा में अर्पित कर दिया था। उनकी सेवा ने उनके बलिदान को पूर्णता दी। हर भारतीय के हृदय में उनका निवास था और भारतीयों के इन्हीं कृतज्ञ हृदयों ने स्वामो विवेकानन्द के ऐतिहासिक यश का पोषण किया है। भारत की पुनर्रचना स्वामी विवेकानन्द के जीवन की परिभाषा थी और इसकी बलिवेदी पर उन्होंने अपने सर्वस्त्र को न्यौछावर कर दिया। विश्व की परवर्ती पीढ़ियों का इतिहास उनके बलिदान की सुगन्धि से आपूरित है। एक उच्चतर दार्शनिक सत्य की प्रतोति और भाई-चारे की राष्ट्रीय अनुभूति जगाने के लिये उन्होंने उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दिनों में ही अपनी कविता "प्रबुद्ध भारत के प्रति" में कहा था—

"जागो फिर एक बार।
यह तो केवल निद्रा थी, मृत्यु नहीं थी,
नवजीवन पाने के लिए,

कमलनयनों के विराम के लिए
उन्मुक्त साक्षात्कार के लिए।

एक वार फिर जागो ।
आकुल विश्व तुम्हें निहार रहा है,
हे सत्य !
तुम अमर हो।"

स्वामी विवेकानन्द महान् मानवतावादी कवि थे। उनकी कविताओं का प्रतिपाद्य विषय मूलतः मनुष्य ही रहा है। उनका उर्वर मस्तिष्क व्यापक मानवीय संवेदना के संदर्भ में चिरन्तन प्रश्नों के स्थायी हल की खोज में सदैव व्यस्त रहा। उन्हें मनुष्य की अपरिमित शक्ति में गहन आस्था थी। प्रस्तर प्रतिमाओं की अपेक्षा उन्होंने जागृत देवता की प्रतिष्ठा की। हाड़-मांस के शारीरिक ढाँचे को उन्होंने उस देवता का मंदिर निरूपित किया–

"वह, जो तुममें है और तुमसे परे भी,
जो सबके हाथों में बैठकर काम करता है,
जो सबके पैरों में समाया हुआ चलता है,
जो तुम सबके घट में व्याप्त है,
उसी की आराधना करो और
अन्य प्रतिमाओं को तोड़ दो।"

स्वामी विवेकानन्द की कविताओं का मूल स्वर निराशा, कुण्ठा और अनास्था का नहीं है। वे पलायनवादी नहीं वरन् कर्मयोगी थे। उनकी साधना ने उनके

आदर्श को सत्य कर दिखाया। वे कर्मठता के मूर्तिमान अवतार थे। कु० मेरी हेल को एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "मैं मृत्युपर्यन्त व्यस्त हूँ और मेरे पास प्रायः एक पंक्ति भी लिखने के लिये समय नहीं है।" अपनी एक पाश्चात्य शिष्या को लिखित कविता "अकाल-कुसुमित वायलेट के प्रति" में उन्होंने लिखा—

"फिर भी, हे वायलेट। तुम
अपनी पावन मधुर प्रकृति—कोमल विकास—
किंचित् मत बदलो,
बल्कि अयाचित अपनी सुगन्धि बिखेरे जाओ,
गति न रुके, विश्वास न खोओ।"

खेतड़ी के महाराज को लिखित अपनी कविता "धीरज रखो तनिक और हे वीर हृदय" में उन्होंने विश्वासपूर्वक उद्‌घोषणा की—

"कोई कृति खो नहीं सकती और
न कोई संघर्ष व्यर्थ जायेगा,
भले ही आशाएँ क्षीण हो जायें
और शक्तियाँ जवाब दे दें

. . . .

यद्यपि भले और ज्ञानवान कम ही मिलेंगे,
किन्तु, जीवन की बागडोर उन्हीं के हाथों में होगी,
यह भीड़ सही बातें देर से समझती है,
तो भी चिन्ता न करो, मार्ग-प्रदर्शन करते जाओ।"

स्वामी विवेकानन्द की कृतियों में एक दैवी संदेश है जो काव्यजगत् में नये आयामों और नयी दिशाओं

का उद्घाटन करता है। उनकी कवित्वशक्ति की पार्श्वभूमि गंभीर आध्यात्मिक अनुभूति थी। एक ऊँचे आध्यात्मिक धरातल पर उनकी विचार-प्रक्रिया का उपकरण प्रस्थापित था। वे मीरा, कबीर, दादू, तुलसी और नानक की महान् परम्परा के उत्तराधिकारी थे तथा एक दार्शनिक और वेदान्तवेत्ता भी। सम्भवतः इसी से उन्होंने दर्शन की शुष्कता में काव्य की रसमय भावनाएँ गूँथीं और काव्य में लोककल्याणकारी दार्शनिक सिद्धान्तों की प्राण-प्रतिष्ठा की। उन्होंने काव्य और दर्शन की शत्रुता का लबादा उतारकर उन्हें जीवन के पूरक सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ इतनी रोचक, स्वस्थ और हृदयग्राह्य हैं।

●

क्या तुमने ससार में अस्सी, नब्बे या सौ वर्ष के स्त्री या पुरुष को नहीं देखा है जो सूख गया है, जिसकी कमर झुक गयी है और जो लाठी के बल लड़खड़ाते हुए चल रहा है, जिसकी जवानी बहुत पहले बीत चुकी है, जिसके दाँत गिर गये हैं और सिर के सारे बाल झड़ गये हैं या सफेद हो गये हैं और जिसका शरीर झुर्रियों से भर गया है ?

और क्या यह विचार तुम्हारे मन में कभी उठा है कि तुम्हारा भी नाश होगा और तुम इससे बच नहीं सकोगे ?

— गौतम बुद्ध

मानव वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर

(१) सन्त परीक्षा

महाराष्ट्र के पुण्यनक्षत्र सन्त ज्ञानेश्वर, नामदेव तथा मुक्ताबाई सन्तमण्डली के साथ तीर्थाटन करते हुए प्रसिद्ध भक्त सन्त गोरा के यहाँ पधारे। सन्त-समागम हुआ, वार्ता चली। तपस्विनी मुक्ताबाई ने पास रखे एक डण्डे को लक्ष्य कर गोरा कुम्हार से पूछा, "यह क्या है ?"

"मैं इससे ठोककर अपने घड़ों की परीक्षा करता हूँ कि वे पक गये हैं या कच्चे ही रह गये हैं," गोरा ने उत्तर दिया।

मुक्ताबाई हँस पड़ी, बोली, "हम भी तो मिट्टी के ही पात्र हैं। क्या इससे हमारी परीक्षा कर सकते हो?"

"क्यों नहीं," कहते हुए गोरा उठे और वहाँ उपस्थित प्रत्येक महात्मा का मस्तक उस डण्डे से ठोकने लगे। उनमें में से कुछ ने इसे विनोद माना, कुछ को रहस्य प्रतीत हुआ। किन्तु नामदेव को बुरा लगा कि एक कुम्हार उन जैसे सन्तों की एक डण्डे से परीक्षा कर रहा है। उनके चेहरे पर क्रोध की झलक भी दिखाई दी। जब उनकी बारी आयी तो गोरा ने उनके मस्तक पर डण्डा रखा और बोले, "यह बर्तन कच्चा है।" फिर नामदेव से आत्मीय स्वर में बोले, "तपस्विश्रेष्ठ

आप निश्चय ही सन्त हैं, किन्तु आपके हृदय का अहंकार रूपी सर्प अभी मरा नहीं है, तभी तो मानापमान की ओर आपका ध्यान तुरन्त चला जाता है। यह सर्प तो तभी मरेगा जब कोई सद्गुरु आपका मार्गदर्शन करेगा।"

सन्त नामदेव को बोध हुआ। स्वयंस्फूर्त ज्ञान में त्रुटि देख उन्होंने सन्त विठोबा खेचर से दीक्षा ली, जिससे अन्त में उनके भीतर का अहंकार छूट गया।

(२) आराधना का तरीका

श्रीरामकृष्ण परमहंस से एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया, "महाराज, क्या संसार के कार्यों में व्यस्त रहते हुए ईश्वर की आराधना सम्भव है ?"

"क्यों नहीं!" परमहंस देव ने हँसते हुए उत्तर दिया, "ग्रामीण स्त्री को तो तुमने चूड़ा बनाते हुए देखा ही होगा। वह अपने एक हाथ से चूड़ा हटाती जाती है तथा दूसरे हाथ से बच्चे को गोदी में लेकर दूध पिलाती रहती है। यदि कोई पड़ोसिन या अन्य व्यक्ति उस समय उसके पास आ जाता है, तब वह उससे बातें भी करती जाती है। ग्राहक आने पर वह उससे हिसाब भी करती है। किन्तु उसका कार्य पूर्ववत् चलता रहता है। इन सब कामों के करते रहने पर भी उसका मन हर समय ओखली और मूसल में ही रहता है। वह जानती है कि यदि थोड़ी सी भी असावधानी बरती गयी, तो मूसल हाथ पर गिरेगा और हाथ टूट जायेगा।

"इसी तरह, मनुष्य को अपने कार्य करने चाहिए, पर अपना मन हर समय भगवान् में लगाकर रखना चाहिए। यही आराधना का सच्चा तरीका है।"

(३) वशीकरण मंत्र का असर

एक बार सन्त दादू के पास एक महिला आयी। उसका पति हमेशा उससे रुष्ट रहता था, जिससे घर में सदव अशान्ति बनी रहती थी। उसने सन्त दादू के पास आकर अपनी दुःख-गाथा कही और कष्ट-निवारण के लिए वशीकरण का एक ताबीज माँगा। दादू ने उसे समझाया कि पति के दोष-दुर्गुणों का विचार न करते हुए सच्चे दिल से यदि वह उसकी सेवा करेगी, तो पति हो क्या, पशु को भी वह वश में कर सकती है। किन्तु उस महिला को यह बात न जँची। उसने एक ही रट लगायी कि उसे वशीकरण का ताबीज दिया जाय, जिसके प्रभाव से ही उसके पति का सुधरना सम्भव है। हठात् दादू ने एक कागज के टुकड़े पर दो पंक्तियां लिखकर उस टुकड़े को एक पुराने ताबीज में रखकर उस स्त्री को पहनने को दे दिया।

करीब एक वर्ष पश्चात् वही स्त्री बहुत-सा उपहार लेकर आयी और सन्त दादू को प्रणाम करके बोली कि उनके द्वारा दिये गये ताबीज के प्रभाव से उसका पति उसके पूरे वश में आ चुका है तथा घर में सदैव शान्ति बनी रहती है। यह सुन वहाँ बैठे उनके शिष्यों तथा अन्य उपस्थित लोगों को आश्चर्य हुआ, क्योंकि दादू

किसी को ताबीज नहीं दिया करते थे। उन्होंने उस स्त्री को ताबीज खोलने कहा। फिर सब लोगों से बोले कि वे वशीकरण का मंत्र कंठस्थ कर लें। उस स्त्री द्वारा ताबीज खोलने पर उन्होंने उस टुकड़े पर लिखा हुआ निम्न दोहा सबको पढ़ सुनाया--

दोष देख मत क्रोध कर, मन से शंका खोय।
प्रेम भरी सेवा लगन से पति वश में होय ॥

तब उस स्त्री को मालूम हुआ कि ताबीज उसको तुष्ट करने के लिए दिया गया था। वास्तव में स्त्री अपने आचार-व्यवहार से ही पति को वश में कर सकती है।

(४) भूखे भजन न होय गोपाला

गौतम बुद्ध एक बार अव्वाली ग्राम गये। वहाँ उनका उपदेश सुनने के लिए सहस्र ग्रामीण उपस्थित हुए। ग्राम का एक दरिद्र किन्तु कर्मठ कृषक भी उनके पास आया। उसने उन्हें प्रणाम किया। बुद्धदेव का उपदेशामृत पान करने की उसकी बड़ी इच्छा थी, किन्तु दुर्भाग्यवश उसका एक बैल खो गया था। वह उसी चिन्ता में था। वह धर्मसंकट में पड़ गया कि वह बुद्ध-देव का उपदेश सुने या बैल को ढूँढ़े। अन्ततः उसने सर्वप्रथम बैल को ढूंढ़ने का निश्चय किया और वह वहाँ से चला गया।

सन्ध्या समय बैल मिल जाने पर थका और भूखा-प्यासा वह कृषक उसी स्थान से निकला। उसने पुनः बुद्धदेव के चरण छुए। इस बार उसने उनका उपदेश

सुनने का ही निश्चय किया। बुद्धदेव ने कुछ क्षण उसके थके–माँदे चेहरे को निहारा, फिर भिक्षुओं से बोले, "सर्वप्रथम इसे भोजन कराओ।"

उसकी उदर-ज्वाला शान्त होने पर बुद्धदेव ने उपस्थित जन-समुदाय को सम्बोधित किया। कृषक ने एकाग्रं मन से उपदेश सुना और वह अपने घर चला गया। उसके चले जाने पर बुद्धदेव ने अपने शिष्यों में इस आशय की कानाफूसी देखी कि उस कृषक के लिए बुद्धदेव ने विलम्ब कराया। बुद्धदेव तव शान्त स्वर में बोले, "भिक्षुगण, उस कृषक को मेरा उपदेश सुनने की तीव्र इच्छा थी, किन्तु इससे उसके कार्यो में बाधा आ पड़ती, अतः वह सुबह मजबूरी से यहाँ से लौट गया था। वह अपने लोक–कर्म के पालन हेतु सारे दिन भटका और क्षुधित होते हुए भी मेरा उपदेश सुनने चला आया। यदि मैं उस क्षुधा-पीड़ित को उपदेश करने लगता, तो वह उसे ग्रहण न कर पाता। याद रखो, क्षुधा के समान कोई भी सांसरिक व्याधि नहीं। अन्य रोग तो एक बार चिकित्सा करने से शांत हो जाते हैं, किन्तु क्षुधा-रोग तो ऐसा है कि उसकी चिकित्सा मनुष्य को प्रतिदिन करनी पडती है।

(५) नम्रता का प्रभाव

हजरत मुहम्मद के एक चाचा थे हुसेन। वे आलीशान मकान में रहते थे। उसके पास धन की कमी न थी। उनके कमरों में बढ़िया कीमती कालीन बिछे रहते थे।

गुलामों और नौकरों पर उनका बड़ा ही दबदबा था और वे सब उनको देख थरथर काँपते थे।

एक दिन एक गुलाम उनका खाना मेज पर लगा रहा था। जब वह रकाबियाँ लेकर आ रहा था, तो अचानक चिकने कालीन पर से उसका पैर फिसल गया और रकाबियाँ हाथ से नीचे गिर पड़ीं तथा आपस में टकराकर चूर-चूर हो गईं। गुलाम बड़ा ही भयभीत हुआ कि न मालूम उसे क्या दंड मिलेगा, किन्तु इसके पूर्व कि उसका मालिक डाँट-फटकार करे और दंड दे, वह घुटने टेककर हुसेन के सामने बैठ गया और सिर झुकाकर उसने बोला, "मालिक, जो दूसरों पर गुस्सा नहीं करते, वे बड़े होते हैं।"

हुसेन कुछ देर तक उस गुलाम के चेहरे की ओर देखते रहे, फिर रुककर उससे बोले, "मैंने तो तुम पर गुस्सा नहीं किया।"

इस पर गुलाम बोला, "जिन्हें गुस्सा आता ही नहीं, वे उससे बड़े होते हैं।"

हुसेन ने कहा, "तुम ठीक कहते हो।"

गुलाम फिर बोला, "लेकिन जो दूसरों की गलतियाँ माफ कर देते हैं, वे सबसे बड़े होते हैं।"

हुसेन ने कहा, "मैंने तुम्हें माफ कर दिया। लो, ये चार सौ दिरहम। मैंने तुम्हें माफ ही नहीं, आजाद भी कर दिया; जाओ।"

हुसेन पर उस गुलाम के शब्दों का इतना अधिक

असर हुआ कि उसने उनके स्वभाव में ही परिवर्तन कर दिया।

(६) विश्वास की शक्ति

भयंकर तूफान से गेलीलो झील का पानी बाँसों उछलने लगा। जो नावें चल रही थी, वे बुरी तरह थरथराने लगीं। लहरों का पानी भीतर पहुँचने लगा तो यात्रियों के भय का पारावार न रहा। एक नाव में एक कोने में कोई निर्द्वन्द्व व्यक्ति सोया पड़ा था। साथियों ने उसे जगाया। जगकर उसने तूफान को ध्यानपूर्वक देखा और फिर साथियों से पूछा, "आखिर इससे डरने की क्या बात है ? तूफान भी आते हैं, नावें भी डूबती हैं और मनुष्य भी मरते ही हैं। इसमें क्या ऐसी अन-होनी बात हो गई, जो आप लोग इतनी बुरी तरह हड़-बड़ा रहे हैं ?"

सभी यात्री उसका उत्तर सुनकर अवाक् रह गये। उस निर्द्वन्द्व व्यक्ति ने कहा, "विश्वास की शक्ति तूफान से भी बड़ी है। तुम बिश्वास क्यों नहीं करते कि यह तूफान क्षण भर बाद बन्द हो जायगा।" भयभीत यात्रियों के उत्तर की प्रतीक्षा किये विना उस अलमस्त ने आँखें बन्द की और अपने अन्तर की झील में उतरकर पूरी शक्ति के साथ कहा, "शान्त हो जा मूर्ख !" और तूफान तुरन्त शान्त हो गया—सहमे हुए नटखट बच्चे की तरह तूफान रुक गया। नाव का हिलना भी बन्द हो गया और यात्रियों ने चैन की साँस ली। अब उस अल-

मस्त यात्री ने– जीसस क्राइस्ट ने साथियों से पूछा, "दोस्तों, जब विश्वास बड़ा है, तो तुमने तूफान को उससे भी बड़ा क्यों मान लिया था ?" फिर, बोले, "दिल से डर निकालकर हिम्मत को स्थान देना चाहिए, तभी हर कार्य में सफलता प्राप्त हो सकती है।"

•

लघुकथा

आलोक की अभिलाषा

डा. प्रणव कुमार बनर्जी

रात्रि के घनान्धकार में, जब दिशाएँ छुप गयी थीं, एक वृक्ष पर एक परिवार के तीन पक्षी अन्धकार की सघनता में सिमटकर बैठे हुए थे। माँ, पिता और शावक।

'रात्रि का अन्त न होगा ?'—एक समय पुत्र ने पूछा। उसकी आँखें आज ही खुली थीं। वह अन्धकार से डरा हुआ था।

'होगा।'—उत्तर दिया उस पक्षी ने, जो पिता था—'जब काल का क्रम अनुकूल होगा, तब। पर रात्रि के अन्त के लिए हर दिशा को प्रार्थना करनी पड़ती है, हर प्राणी को आलोक की अभिलाषा।'

'आलोक की अभिलाषा आत्मा की शुद्ध शक्ति के बगैर नहीं आती।'—तृतीय पक्षी ने कहा। वह माँ थी।—'आओ, हम आत्मा की शुद्ध शक्ति के लिए प्रार्थना करें।'

और, तीनों प्राणी प्रार्थना में डूब गये। थोड़ी देर बाद पूर्वाकाश में एक किरण फूटी। माँ ने कहा, 'इस किरण को देखो, यही किरण दिवस का अभिषेक करेगी।'

आकाश क्रमशः जगमगाता जा रहा था।...

●

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि स्वामीजी के हिन्दू धर्म पर इस भाषण ने मानव-धर्म के इतिहास में एक अपूर्व प्रभाव डाला। जहाँ आज बीसवीं सदी का आधुनिक विज्ञान अपनी उपलब्धियों द्वारा समस्त जड़ पदार्थों में एकत्व की अनुभूति का प्रयास कर रहा है, वहाँ उन्नीसवीं शताब्दी के शेषकाल में ही, इस विद्वान् संन्यासी ने हिन्दू धर्म की उदार और भावग्राही विचार-धाराओं का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया था कि न केवल जड़ वरन् समस्त चेतन पदार्थों के मूल में 'एकमेवाद्वितीय' तत्त्व अवस्थित है और सभी धर्म उसी एक तत्त्व की, जिसे ब्रह्म, ईश्वर, गॉड, अल्लाह आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है, अनुभूति के विभिन्न मार्ग हैं। यह तत्त्व कहीं बाहर नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य में, जड़ एवं चेतन समस्त पदार्थों में अनुस्यूत रूप से विद्यमान है और उसकी अनुभूति ही समस्त धर्मों का एकमात्र लक्ष्य है। वही एकमात्र आदर्श है जिसकी ओर संसार की समस्त धर्म-सरिताएँ अविरल रूप से प्रवाहित हो रही हैं। और इसीलिए सभी धर्म सत्य हैं। दृढ़ता और गुरुत्वपूर्ण वाणी से स्वामीजी ने कहा कि धर्म और ईश्वर के नाम पर आपस में होने वाला भीषण रक्तपात, घृणा और वैमन-

स्यता सारे मानव-समाज के लिए कलंक की बात है। उनकी इस अलौकिक वक्तृता में दो बातें विशेष रूप से परिलक्षित हुईं—एक, दूसरे धर्मों के प्रति आदर और सहिष्णुता तथा दो, विभिन्न धर्मों का आपस में सामीप्य। उन्होंने दूसरों के धर्म के खंडन का कोई प्रयास नहीं किया वरन् धर्मों के बीच व्याप्त भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करते हुए उनके मध्य सामंजस्य और बन्धुत्व की स्थापना का प्रयत्न किया। सार्वभौम धर्म की उनकी धारणा ऐसी नवीन थी तथा वैचित्र्य और वैभिन्य को स्वीकारते हुए उनके मूल में विद्यमान एकत्व की खोज का आग्रह इतना प्रवल था कि उसमें साम्प्रदायिकता और संकीर्णता के लिए कोई स्थान न था। फिर ऐसी वात भी न थी कि उनकी यह क्रान्तिकारी विचारधारा केवल बौद्धिक मतवाद हो। वह तो अनुभूतिजन्य थी। वर्षों की सतत साधना और तपश्चर्या से उन्होंने इस एकत्व की अनुभूति की थी। इसीलिए उनकी वक्तृता के पीछे केवल वाग्मिता ही नहीं वरन् अनुभूति की अजस्र शक्ति कार्य कर रही थी जिसने श्रोताओं के हृदयपटल पर अमिट प्रभाव डाला था। उनके व्यक्तित्व का अवलम्बन कर मानो ईश्वरीय शक्ति ही महासभा में अपना दैवी प्रभाव प्रस्थापित कर रही थी। अतएव एक ओर जो धर्मान्ध थे, संकीर्णमना थे, उनके हृदय के वन्द द्वारों को उदार विचारों के इस भीषण झंझावात ने झकझोर डाला, और दूसरी ओर जिनकी दृष्टि में

धर्म महज अन्धविश्वास, संकीर्णता, साम्प्रदायिकता तथा पादरियों की स्वार्थलिप्सा की पूर्ति का साधनमात्र था, उनके हृदय में इन विचारों ने धर्म के प्रति महत्ता और व्यापकता का गुरुतर प्रकाश स्पन्दित किया। सबमें अवस्थित आत्मतत्त्व के उस व्यापक सिद्धान्त ने विश्व-भ्रातृत्व की सुदृढ़ धारणा को जन्म दिया। एक नवीन ज्ञानालोक प्रस्फुटित हुआ कि सब धर्म सत्य हैं, सारा विश्व-ब्रह्माण्ड मात्र एक चिन्मय सत्ता का प्रकाश है। वक्तृता तो हिन्दू धर्म पर थी, किन्तु वास्तव में प्रतिपादित हुआ विश्व धर्म या मानव धर्म।

स्वामीजी के गौरवमय जीवन का वह एक महिमामंडित क्षण था जब उन्होंने महासभा के माध्यम से मानव-जीवन की दिव्यता तथा ईश्वर के साथ उसकी अभिन्नता का प्रचार किया। विभिन्न देशों के विद्वत्-समुदाय ने उस दिन उन्हें धर्म के एक नवीन संदेशवाहक महापुरुष के रूप में देखा। वे समस्त उदारमना विद्वानों की दृष्टि में एक विश्ववरेण्य व्यक्ति के पद पर समारूढ़ हुए; चिरकाल के लिए मानव के ईश्वरत्व की घोषणा करने वाले देवमानव के रूप में प्रतिष्ठित हुए। मात्र एक ही वक्तृता से उन्होंने धर्मजगत् में सर्वधर्मसमन्वय और मनुष्य में निहित देवत्व की जो भावधारा प्रवाहित की, वह उत्तरोत्तर बलवती होते हुए समग्र मानवजाति में आशा और सद्भाव का प्रसारण कर रही है। आज समस्त धर्मों को हम सहिष्णुता और उदारता की ओर

अग्रसर हुआ पाते हैं। कहना अत्युक्ति न होगी कि वह स्वामीजी की इस वक्तृता का ही क्रांतिकारी प्रभाव है। पर इससे अगर सबसे अधिक कोई लाभान्वित हुआ तो वह था, भारत। पाश्चात्य दृष्टि में तमसाच्छन्न, असभ्य, अंधविश्वास से पूर्ण माना जाने वाला यह देश पुनः अपनी प्राचीन जगद्गुरु की गरिमा में प्रतिष्ठित हुआ। तभी तो उनके भाषण पर टिप्पणी करते हुए 'दि न्यूयार्क हेराल्ड' ने कहा था—"उन्हें सुनने के बाद हमें यह महसूस होता है कि ऐसे सुशिक्षित देश में धर्मप्रचारक भेजना कितना मूर्खतापूर्ण कार्य है!" भगिनी निवेदिता ने अपनी सशक्त लेखनी से उनके भाषण के हुए प्रभाव का सुन्दर वर्णन किया है। वे लिखती हैं, "धर्म-महासभा के सम्मुख स्वामीजी के अभिभाषण के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब उन्होंने अपना भाषण आरम्भ किया तो विषय था 'हिन्दुओं के धार्मिक विचार', किन्तु जब उन्होंने अन्त किया, तब तक हिन्दू धर्म की सृष्टि हो चुकी थी।...

"स्वामी विवेकानन्द के मुख से जो शब्द उच्चरित हुए, उनकी मौलिकता का श्रेय उन्होंने स्वयं नहीं लिया और न उन्होंने अपने गुरुदेव की कथा सुनाने के निमित्त ही इस अवसर का उपयोग किया। इन दोनों के स्थान पर भारत की धार्मिक चेतना—सम्पूर्ण अतीत के द्वारा निर्धारित उनके देशवासियों का सन्देश ही उनके माध्यम से मुखर हुआ था। और जब वे पश्चिम के

यौवनकाल में–उसके मध्याह्न में–बोल रहे थे, तब प्रशान्त के दूसरी ओर, तमसाच्छन्न गोलार्ध की छायाओं में प्रसुप्त एक राष्ट्र आशान्मुख हो उस वाणी की बाट जोह रहा था जो अरुणोदय के पंखों के साथ उसकी ओर गतिमान था तथा जो उसकी महानता और शक्ति के रहस्य को उसके सम्मुख उद्घाटित करने वाला था।

"उसी धर्म-महासभा के मंच पर स्वामी विवेकानन्द के अतिरिक्त विशिष्ट मतों और संघों के धर्मदूत भी उपस्थित थे। किन्तु एक ऐसे धर्म का प्रचार करने का गौरव उन्हीं को था, जिस तक पहुँचने के लिए इनमें से प्रत्येक, उन्हीं के शब्दों में, विभिन्न अवस्थाओं और परिस्थितियों के द्वारा उसी एक तक पहुँचने के निमित्त 'विभिन्न स्त्री-पुरुषों की यात्रा, प्रगतिमात्र' है। और जैसा कि उन्होंने घोषित किया, वे वहाँ एक ऐसे महापुरुष का परिचय देने खड़े हुए थे जिन्होंने इन सभी मत-मतान्तरों के विषय में कहा है कि यह नहीं कि इनमें से कोई एक या दूसरा, इस या उस पक्ष में, इस या उस कारण, सत्य या असत्य है, वरन् 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव–'यह सब धागे में मोतियों की भाँति मुझमें ही पिरोये हुए हैं।' जहाँ मानव–जति को पवित्र और उसका उन्नयन करती हुई असामान्य पवित्रता, असामान्य शक्ति, तेरे देखने में आये, तू जान कि मैं वहाँ हूँ।' विवेकानन्द का कहना है कि एक हिन्दू की दृष्टि में 'मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं जाता, वरन् सत्य से सत्य की

ओर अग्रसर होता है; निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर जाता है।' यह, तथा मुक्ति का यह सिद्धान्त कि 'मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके ईश्वर होना है'; यह सत्य कि धर्म केवल तभी हममें पूर्णता को प्राप्त करता है, जब वह हमें उस तक ले जाता है, जो मृत्यु के संसार में एकमात्र जीवन है, उस तक जो नित्य परिवर्तनशील जगत् का चिरन्तन आधार है, उस एक तक जो केवल आत्मा ही है और अन्य सभी आत्माएँ जिसकी भ्रान्त अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं – ये दो महान् विशिष्ट सत्यों के रूप में मान्य हो सकते हैं। भारत ने मानव-इतिहास की दीर्घतम और जटिलतम अनुभूति के द्वारा प्रमाणीकृत इन दोनों सत्यों को उनके माध्यम से पश्चिम के आधुनिक जगत् में घोषित किया।

"स्वयं भारत के लिए, जैसा पहले ही कहा जा चुका है, यह सक्षिप्त अभिभाषण मानो मताधिकार की एक छोटी सी सनद थी। वक्ता ने हिन्दू धर्म को सर्वांगतया वेदों पर आधारित किया है; किन्तु वेद सम्बन्धी हमारी धारणा का वे इस शब्द के उच्चारण-मात्र से ही अध्यात्मीकरण कर देते हैं। उनके निकट, जो कुछ सत्य हैं, वह सब वेद है। वे कहते हैं, 'वेदों का अर्थ कोई ग्रन्थ नहीं है। वेदों का अर्थ है, विविध समयों पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक नियमों का संचित कोष।' प्रसंगवश वे सनातन धर्म के सम्बन्ध में अपने विचार को भी प्रकट करते हैं। 'विज्ञान

की आधुनिकतम खोजें जिसकी प्रतिध्वनि जैसी लगती हैं, उस वेदान्त दर्शन के उच्च आध्यात्मिक स्तरों से लेकर, विविधतामय पौराणिकतायुक्त मूर्तिपूजा के निम्नतम विचार, बौद्धों के अज्ञेयवाद और जैनों के निरीश्वरवाद तक प्रत्येक का और सबका स्थान हिन्दू धर्म में है।' उनकी दृष्टि में भारतवासियों का कोई भी मत, सम्प्रदाय अथवा कोई भी सच्ची धर्मानुभूति– वह किसी को कितनी ही धूमिल क्यों न प्रतीत हो – ऐसी नहीं है, जिसे हिन्दू धर्म की बाहुओं से औचित्यपूर्वक बहिष्कृत किया जा सके। और उनके अनुसार इस भारतीय धर्ममाता का विशिष्ट सिद्धान्त है इष्ट देवता– हर आत्मा को अपने मार्ग को चुनने तथा ईश्वर को अपने ढंग से खोजने का अधिकार। . . . .

"किन्तु सबों का यह समावेश, प्रत्येक की यह स्वतन्त्रता हिन्दू धर्म की ऐसी गरिमा न बन पाती, यदि उसका परम आह्वान और उसकी मधुरतम प्रतिज्ञा यह न होती, 'हे अमृतपुत्रो ! सुनो ! उच्चतर लोकों में रहने वालो, तुम भी सुनो; मैंने उस पुरुष को पा लिया है, जो समस्त अन्धकार और समस्त भ्रान्ति के परे है। और तुम भी उसको जानकर मृत्यु से मुक्ति प्राप्त कर सकोगे।' यही है वह शब्द, जिसके निमित्त शेष सबका अस्तित्व रहा है। इसी में वह चरम अनुभूति है, जिसमें अन्य सबका तिरोभाव हो जाता है।"

हिन्दू धर्म के प्रति लोगों की बढ़ती हुई लोकप्रियता

को देख कट्टर ईसाइयों के हृदय में जिनमें धर्म-महासभा के आयोजक भी शामिल थे, ईर्ष्या के शूल उठने लगे। जिस (ईसाई धर्म की सर्वश्रेष्ठता स्थापित करने के) उद्देश्य से उन्होंने धर्म-महासभा का आयोजन किया था, उस पर पानी फिरता नजर आने लगा। ईसाई धर्म की गिरती हुई प्रतिष्ठा और हिन्दू धर्म के प्रति प्रबुद्ध अमरीकी जनता का आकर्षण देख उनके पैरों तले की जमीन खिसकने लगी। धर्म-महासभा में अव खुले-आम ईसाई धर्म का वर्चस्व प्रस्थापित करने के लिए कट्टर पादरीगण एड़ी-चोटी का पसीना एक करने लगे। महा-सभा के अन्तिम दिन तक उनका यही प्रयास चलता रहा कि ईसाई धर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म घोषित हो। हॉल ऑफ कोलम्वस प्रतिदिन ऐसे नारों से गूँजता रहा जैसा कि श्रीमती वर्क ने 'न्यू डिस्कवरी' में लिखा है– "ईसाई धर्म अपनी प्रेरक शक्ति में, पवित्रीकरण की क्षमता में तथा उन्नत वनानेवाली प्रेरणात्मक ईश्वरीय शक्ति के रूप में, अपनी स्पर्धा में आनेवाले समस्त धर्मों की अपेक्षा आत्यन्तिक रूप से श्रेष्ठ है। मदुराई और तंजोर के चिकने साँड़ में तथा दुनिया के पाप हरनेवाली ईश्वर की भेंड़ में कोई साम्य नहीं है"; "... ईसाई धर्म का अपने से भिन्न धर्मों के प्रति दृष्टिकोण ऐसे घोर विद्वेष का है जो सार्वभौमिक और शाश्वत है; क्योंकि शेष सभी धर्म झूठे और इसलिए अग्राह्य हैं। अन्य धर्मावलम्वियों के प्रति (अगर वे ईसाई वनना स्वीकार

करें तो) उनका दृष्टिकोण कृपा, क्षमा और शान्ति का है।"

इस तरह की दम्भ भरी कटूक्तियां प्रतिदिन धर्म–महासभा में प्रतिध्वनित होती रहीं। दूसरे धर्मों को, विशेषकर हिन्दू धर्म को, लांछित करने और नीचा दिखाने में ईसाई पादरीगण प्रयत्नपूर्वक जुट गये। उनका उद्देश्य अब न केवल ईसाई धर्म को दूसरे धर्मों से सर्वश्रेष्ठ घोषित करना था, वरन् उन उपायों का सृजन करता था जिनका अवलम्बन कर ईसाई मिश–नरियाँ दूसरे धर्मों का नाश कर ईसाई धर्म का वर्चस्व स्थापित कर सकें। महासभा में इस चर्चा के लिए अधि-कृत रूप से, बारहवें दिन के मध्याह्न का समय निर्धा रित किया गया था। किन्तु प्रथम दिन से ही इस कार्य को प्राथमिकता दी गयी। विदेशों में मिशनरियों के कार्यों की बढ़ा–चढ़ाकर प्रशंसा की गयी तथा उनके कार्यों की और भी व्यापक पैमाने पर बढ़ाने की योज–नाएँ तैयार की गयीं।

किन्तु प्राच्यदेशीय प्रतिनिधियों ने उन्हें सीधे नहीं छोड़ा। उन्होंने निर्भीकता के साथ, अपने देश में मिश-नरियों द्वारा धर्मपरिवर्तन के लिए अपनाये गये कुत्सित हथकंडों की आलोचना की। 'नेटिव' लोगों की सेवा के नाम पर लयी गयी विशाल धन राशि को स्वयं की स्वार्थ- लिप्सा पर खर्च करने का अभियोग लगाया। ब्राह्म समाज के श्री नागरकर ने उत्तेजना पूर्ण शब्दों में कहा,

"क्या आप सपने में भी कभी तनिक सा विचार करते हैं कि आपका पैसा मात्र ईसाई रूढ़िवादिता, ईसाई धर्मान्धता, ईसाई दम्भ और ईसाई वहिष्कार-वृत्ति को दूसरे देशों में जबरन ठूँसने के लिए वहाया जा रहा है? मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप इस विपुल राशि का कम से कम एक-दशांश मात्र हमारे देश में ऐसे मिशनरी भेजने में खर्च करें जो असाम्प्रदायिक और उदार वृत्ति वाले हों तथा जो अपनी शक्ति का उपयोग हमारे स्त्री-पुरुष और हमारी सारी जनता को शिक्षित बनाने में कर सकें।"

स्वामीजी भी धर्मान्ध पादरियों की अहम्मन्यता और कुटिलता देख क्षुब्ध हो उठे थे। भारत में कार्यरत ईसाई मिशनरियों की कुत्सित गतिविधियों की उन्होंने समय समय पर आलोचना भी की थी। पुनः २०सितम्बर को मिशनरियों के कार्यों का विवेचन करते हुए विशाल जनसमुदाय के सम्मुख मार्मिक और स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा, "ईसाइयों को चाहिए कि वे यथार्थ दोषा-दोष विवेचना के लिए तैयार रहें और मुझे विश्वास है कि यदि मैं आप लोगों के कुछ दोषों पर विवेचन करूँ तो आप बुरा न मानेंगे। आप ईसाई लोग जो मूर्ति-पूजकों की आत्मा का उद्धार करने के निमित्त अपने धर्मोपदेशक भेजने के लिए इतने उत्सुक रहते हैं, उनके भूख से तड़पकर मरते हुए शरीरों को बचाने के लिए कुछ क्यों नहीं करते? भारतवर्ष में जब भीषण अकाल

पड़ा था तब सहस्रों और लाखों हिन्दू क्षुधा से पीड़ित होकर मर गये, पर आप ईसाइयों ने उनके लिए कुछ नहीं किया। आप लोग सारे हिन्दुस्थान में गिरजे बनाते है, पर मैं कहूँ, पूर्वीय देशों में प्रधान अभाव धर्म नहीं है। उनके यहाँ तो वैसे ही आवश्यकता से अधिक धर्म है। वहाँ अभाव है रोटी का, अन्न का। जलते हुए भारत के लाखों दुःखार्त भूखे लोग सूखे गले से 'रोटी-रोटी, अन्न-अन्न' चिल्ला रहे हैं। वे हमसे रोटी माँगते हैं और हम उन्हें देते हैं पत्थर! क्षुधातुरों को धर्म का उपदेश देना उनका अनादर और तिरस्कार करना है। भूखों को आध्यात्मिक ज्ञान सिखाना उनका उपहास करना है! भारतवर्ष में यदि कोई धर्मोपदेशक धन-प्राप्ति के लिए धर्म का उपदेश करे तो वह जाति से निकाल दिया जायगा और बुरी तरह अपमानित होगा।...

"ईसाई मिशनरी वहाँ जाते हैं और अपना जीवन अर्पित करते हैं, पर केवल इसी शर्त पर कि हिन्दू अपने पूर्वजों के धर्म का परित्याग कर ईसाई बन जायँ। क्या यह उचित है ?...यदि आप 'बन्धुत्व' के अर्थ की सही व्याख्या करना चाहते हैं तो हिन्दुओं के साथ जरा सहृदयता का व्यवहार कीजिए, भले ही वह हिन्दू ही बना रहना चाहे और अपने धर्म के प्रति वफादार हो। उनके पास ऐसे मिशनरी भेजिए जो उन्हें अध्यात्म की अनर्गल बातें न सिखाकर रोटी का एक टुकड़ा कमाने

की शिक्षा दे सकें।...

"मैं यहाँ आया था अपने अन्न-वस्त्रहीन दरिद्र भाइयों के लिए सहायता माँगने। पर मैं यह पूरी तरह समझ गया हूँ कि मूर्तिपूजकों के लिए ईसाई धर्माव-लम्बियों से और विशेषकर उन्हीं के देश में सहायता प्राप्त करना कितना कठिन है !"

यह महज व्याख्यान न था, स्वामीजी के हृदय की तड़पन थी। एक एक शब्द अन्तर्वेदना से भरा हुआ था। अपने देशवासियों के लिए वह मार्मिक अपील थी। लोगों ने अनुभव किया कि यह व्यक्ति केवल एक धर्म-विशेष का प्रतिनिधि नहीं है, वरन् एक समूचे राष्ट्र का प्रतिनिधि है, जिसका अन्तः अपने देश पर हुए अत्या-चारों पर आँसू बहा रहा है। वह केवल धर्मप्रचारक ही नहीं, महान् देशभक्त भी है जिसका हृदय देश के प्रति अटूट श्रद्धा और गौरव से पूर्ण है और जिसकी अन्तरात्मा को देशवासियों की पीड़ा सदैव व्यथित करती रही है। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने जो उस समय महासभा में उपस्थित थीं, स्वामीजी के इस पक्ष का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। वे लिखती है—"महिमा-मय मूर्ति, गैरिक वस्त्र से विभूषित, शिकागो नगर के धूम्रमलिन धूसर वक्ष पर भारतीय सूर्य की तरह दीप्ति-मान, उन्नत शिर, मर्मभेदी दृष्टिपूर्ण आँखें, चंचल ओंठ, मनोहर अंगभंगी—यह रूप था स्वामी विवेकानन्द का, जो धर्म-महासभा के प्रतिनिधियों के लिए निर्दिष्ट कमरे

में पहली बार मेरी आँखों में उतरा था।

"लोग उन्हें संन्यासी कहते थे, इसमें कोई असत्यता नहीं, किन्तु वे एक योद्धा-संन्यासी थे और प्रथम साक्षात्कार के समय मेरे मन पर संन्यास की अपेक्षा उनके शूरत्व ने अधिक प्रभाव डाला था; क्योंकि जब वे सभामंच पर पहुँचते, उनकी सारी देहयष्टि देश के गर्व से, जाति के गर्व से फूल उठती। वे सबसे प्राचीन जीवन्त धर्म के प्रतिनिधि थे, और उनके चारों ओर प्राय: नवीनतम धर्म वाले दर्शकों की उत्सुकता भरी भीड़ बनी रहती थी। उनकी यह दृढ़मूल धारणा थी कि जिस महान् आस्था का वे पोषण करते रहे हैं वह वहाँ के सर्वश्रेष्ठ धर्मों की तुलना में लेशमात्र भी हीन नहीं है।

"द्रुतगामी, दाम्भिक तथा उद्धत पाश्चात्य जगत् में अपने योग्यतम संदेशवाहक और सन्तान को भेज भारत गौरवान्वित हुआ था। वे भारत का संदेश लेकर आये और उसकी वाणी का प्रचार किया। जिस महिमा-मंडित देश के प्रतिनिधि के रूप में वे आये, उसकी मर्यादा का वे सदैव स्मरण रखते रहे। अटल उद्देश्य-वान, उद्यमशील, शक्तिमान तथा मनुष्यों के बीच उन्नत-मना मानव के रूप में अपने विचारों को सक्षमता के साथ प्रस्तुत करने में वे सफल सिद्ध हुए।

"मंच पर उनका एक दूसरा ही रूप सामने आया। स्वयं की गरिमा, श्रेष्ठत्व और शक्ति के बारे में दृढ़

विश्वास वहाँ भी विराजित था, किन्तु उन्होंने भारत के मर्म और प्राणस्वरूप जिस अतुलनीय और अति आश्चर्यमयी आत्मविद्या को—प्राच्य के जिस अनुपम सौन्दर्यमय आध्यात्मिक सन्देश को सम्मुख प्रस्तुत किया, उसके सामने वह फीका पड़ गया था। आह्लादित विशाल जनसमूह आकृष्टचित्त हो उनकी शब्दराशि पर अपने प्राण बिछाये रहता कि कहीं एक भी शब्द छूटने न पाये, एक भी उच्चारण अलक्षित न रह जाये! सभाभवन से निकलते समय एक श्रोता के मुख से बरबस ये बोल फूट पड़े—'यह व्यक्ति, और विधर्मी! और हम उसके देश में मिशनरी भेजते हैं! उचित तो यह होगा क वे हमें मिशनरी भेजें'।"

(क्रमशः)

•

मैले शीशे में सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। उसी प्रकार जिनका अन्तःकरण मलिन और अपवित्र है उसके हृदय में ईश्वर के प्रकाश का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता।

— श्रीरामकृष्ण

ईश्वर एक है पर उसके अनेक रूप है। वह सभी का स्राष्टा है और वह स्वयं मानवी रूप ग्रहण करता है।

ईश्वर भय से परे है। उसका कोई शत्रु नहीं है और वह जन्म और मृत्यु से ऊपर उठा हुआ है।

— नानक

अविला की सन्त टेरेसा

डा. अशोक कुमार बोरदिया

सामान्य मानवों के समान ही सभी प्रकार की शारीरिक व्याधियों एवं विभिन्न बाधाओं द्वारा निरन्तर सताये जाने पर भी सन्त-महापुरुष इन कठिनाइयों की चिन्ता नहीं करते। वे तो जीवन में एकमात्र महत्त्वपूर्ण आत्मतत्त्व को धैर्यपूर्वक थामे रहते हैं। परमेश्वर की असीम कृपा सन्तों को जीवन के इन क्षणिक उतार-चढ़ावों को सहन करने की क्षमता प्रदान करती है, और वे लगन और अध्यवसाय के सहारे अपने जीवनकाल में ही लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ होते हैं। सन्त टेरेसा का जीवन भी निरन्तर संघर्षों के बीच आशा और विश्वास की विजय का, तथा ईश्वर के लिये सर्वस्व त्याग का एक अपूर्व उदाहरण है।

टेरेसा का जन्म सन् १५१५ ई. में स्पेन के ओल्ड कासल प्रान्त के अविला नगर में हुआ था। उनके पिता विद्वान् और अध्ययनशील होने के साथ साथ दानी एवं श्रद्धालु भी थे। माता साधु प्रकृति की महिला थीं जो रोगादि को धैर्य एवं सहिष्णुता से झेलती थीं। उन्होंने अपने बच्चों में भी धार्मिक विचारों के बीज बो दिये थे। जब टेरेसा केवल बारह वर्ष की थीं, तभी उनकी देवीतुल्या माता का स्वर्गवास हो गया था।

बाल्यकाल से ही टेरेसा ने सन्तों की जीवनियों से

प्रभावित होकर मन ही मन अपने जीवन को ईश्वरार्पित करने का निश्चय कर लिया था। वे प्रायः अपने समवयस्क एक भाई के साथ ही अपना अधिकांश समय व्यतीत किया करती थी। दोनों मिलकर अन्य जातियों के अविकसित लोगों को ईसाई बनाने की महत्त्वाकांक्षो योजनाएँ बनाया करते थे। ईश्वर के लिये अपने आपको बलिदान कर देने की कितनी ही बालसुलभ प्रतिज्ञाएँ दोनों बालकों ने ली होंगी! त्याग की गाथाओं से प्रेरित हो बालिका टेरेसा अपने भाई के साथ मूरों के हाथों शहीद होने के लिये घर से भाग निकलीं, किन्तु नगरकोट के बाहर वे नहीं जा पायीं। उन्हें पकड़कर घर ले आया गया।

पिता की तरह टेरेसा को भी पुस्तकों का शौक था। शैशव काल में वे चोरी - छिपे प्रेमगाथाओं और रोमांचकारी उपन्यासों को पढ़ा करती थीं। इसी समय उनकी एक चचेरी युवती बहन, सम्भवतः माता के अभाव में, घर की देखरेख करने के लिये उनके परिवार में रहने आयी। यह महिला शृंगार-आभूषणों आदि में विशेष रुचि रखती थी। इसके चाल-चलन का कुप्रभाव टेरेसा पर भी पड़ा। इस उम्र की लड़की के लिये शृंगारादि में रुचि होना हमें भले ही स्वाभाविक प्रतीत हो, पर टेरेसा कई वर्षों बाद भी अपने आपको इस पाप कर्म के लिये दोषी ठहराती थीं। इस सन्दर्भ में वे कहा करती थीं, "हमारे मन का स्वाभाविक झुकाव शुभ से

कहीं अधिक अशुभ की ओर रहता है। मैंने अपनी बड़ी बहन के सद्गुणों से तो कुछ भी नहीं सीखा, किन्तु एक सम्बन्धी की सभी बुराइयाँ ग्रहण कर लीं। कुसंग के दुष्परिणामों का विचार कर मैं दंग रह जाती हूँ!"

टेरेसा में हो रहे इस परिवर्तन को रोकने के लिये सोलह वर्ष की उम्र में इनके पिता ने इन्हें सन्त अगस्तीन के कान्वेन्ट में शिक्षा पूरी करने के लिये भेजा। टेरेसा का व्यक्तित्व आकर्षक था। दूसरों द्वारा की गयी प्रशंसा उन्हें बड़ी अच्छी लगती थी। इस कान्वेन्ट में आकर उन्होंने अपनी खोयी हुई धार्मिक प्रवृत्ति पुनः प्राप्त कर ली।

टेरेसा प्रायः अस्वस्थ रहा करती थी। लम्बी बीमारी के बाद स्वास्थ्य-लाभ के लिये उन्हें उनके धार्मिक प्रकृति वाले एक चाचा के पास भेजा गया। उन्होंने टेरेसा को 'लाईव्स आफ दि सेन्ट्स' (सन्तों की जीवनियाँ) नामक पुस्तक पढ़ने को कहा। इस पुस्तक के अध्ययन से टेरेसा को जीवन की निःसारता का आभास हुआ और उन पर नरक की यातनाओं का भय छा गया, जिनका सविस्तार उल्लेख उस समय की धार्मिक पुस्तकों में पाया जाता था। धार्मिक जीवन बिताने का उनका प्रथम निर्णय भय से ही प्रेरित था, न कि ईश्वर-प्रेम से।

इक्कीस वर्ष की उम्र में, पिता की अनुमति के विना ही टेरेसा ने 'कान्वेन्ट आफ इन्कार्नेशन' में प्रवेश

लिया। एक वर्ष बाद उन्हें विधिवत् संन्यास की शपथ दिलायी गयी।

वैसे तो सारी उम्र टेरेसा का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा किन्तु आध्यात्मिक साधना के प्रारम्भिक चरण में उनका स्वास्थ्य अत्यधिक बिगड़ गया। उन्हें चक्कर आया करते थे, तेज ज्वर बना रहता था, देह में असहनीय वेदना होती थी, यहाँ तक कि कपड़ों का स्पर्श भी दुखदायी होता था। उन्हें एक प्रसिद्ध चिकित्सक के पास भेजा गया और एक बार पुनः उन्हें अपने सन्त चाचा के सत्संग में समय व्यतीत करने का अवसर मिला। इस बार उन्होंने टेरेसा को ध्यान-चिन्तन सम्बन्धी पुस्तक प्रदान की जो टेरेसा के लिये पथ-प्रदर्शक, दार्शनिक और सहयोगी, सभी कुछ सिद्ध हुई। इलाज के बावजूद टेरेसा का रोग अधिकाधिक बढ़ता गया और वर्ष भर के बाद एक अवस्था ऐसी आयी जब वे चार दिनों तक लगातार अचेत पड़ी रहीं। उन्हें दफनाने का स्थान भी निश्चित कर लिया गया था और यदि उनके पिता विलम्ब न करते तो उन्हें दफना ही दिया गया होता। धीरे धारे वे पुनः जीवित हो उठीं। "मैंने नरक को देख लिया. .," ये थे उनके शब्द जो उनके इस अनुभव का प्रकाशन करते हैं।

एक बार पुनः कान्वेन्ट में लौटकर वे विभिन्न कार्यों में लग गयीं। पर मानवसुलभ दुर्बलताओं के कारण आध्यात्मिक जीवन के प्रति उनकी लगन कम

हो गयी। वे संसारी प्रवृत्ति वाले लोगों से बातचीत करने में आनन्द का अनुभव करने लगीं। इससे उनका समय भी नष्ट होने लगा। यही नहीं, वे अपने इस कार्य को अच्छा भी मानने लगी थीं। लगभग बीस वर्षों तक उनकी निष्ठा ईश्वर और संसार के बीच समान रूप से बँटी रही। इन दिनों का वर्णन करते हुए वे अपनी जीवनी में लिखती हैं, "जब मैं संसार का भोग करती थी तब मुझे ईश्वर के प्रति अपने कर्तव्य की सुधि परेशान करती थी और जब वन्दना करने बैठती तब संसार का मोह मुझे खींचता था, अतः बड़ी बेचैनी होती थी।" किन्तु इस अन्तर्द्वन्द्व के समय भी टेरेसा ने यह विश्वास नहीं छोड़ा कि अन्ततोगत्वा वे अपनी कमजोरियों पर विजय पा ही लेंगी।

धीरे धीरे भगवान ने टेरेसा को अपनी ओर खींचा। उनके जीवन में द्वन्द्वों की कमी होने लगी और ईश्वर निष्ठा में कुछ स्थायित्व आने लगा। भगवान् के साथ उनका मिलन कई वर्षों की कठोर साधना के बाद ही सम्भव हुआ था। पहले सांसारिक वस्तुओं से आध्यात्मिक वस्तुओं की ओर, तत्पश्चात् प्रार्थना एवं चिन्तन (ध्यान) के विभिन्न स्तरों से होते हुए वे अन्त में अहंकार के सम्पूर्ण नाश की चरमावस्था तक पहुँची थीं। उन्होंने भय से प्रेरित हो आध्यात्मिक जीवन स्वीकार किया था किन्तु धीरे धीरे उनमें परमात्मा के प्रति अनुराग का उदय हुआ और अन्त में तो ईसा मसीह

उनके साथी एवं स्वामी बन गये थे। नारी-सुलभ स्वभाव वाली, शृंगार और आभूषणों की शौकीन वही टेरेसा जब कालान्तर में उच्च आदर्शों के अनुरूप मठ की स्थापना के उद्देश्य से इन्कार्नेशन के कान्वेन्ट से निकलीं तब उनके पास एक हेबिट (स्त्री-सन्तों के पहनने का वस्त्र) और एक कंघी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था।

क्रमशः टेरेसा को दिव्यानुभूतियाँ होने लगीं। ईश्वर-प्रेमोन्माद के क्षणों में वे प्रायः अपनी देह की सुधि भूलकर घन्टों अचेत पड़ी रहती थीं। ऐसे समय उनका शरीर शिथिल हो जाता और वे बाह्य ज्ञान-शून्य हो जातीं। उन्हें फरिश्तों के, माता मरियम और सन्त जोसेफ के दर्शन हुए थे। इस काल के अनुभवों के सम्बन्ध में वे लिखती हैं, "जिस प्रकार सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश में शुद्ध प्रतीत होने वाले स्फटिक में भी सूक्ष्म रूप से छिपी गन्दगी स्पष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जब ईश्वरीय आभा आत्मा को प्रकाशित करती है, तब उसमें निहित अपूर्णताएँ साफ दिखने लग जाती हैं।" इस अवस्था में टेरेसा अपनी सूक्ष्म वासनाओं को जानने और उन्हें दूर करने में समर्थ हुई थीं। टेरेसा की इन विभिन्न दैवी अनुभूतियों का लोग विभिन्न अर्थ लगाया करते थे। कुछ धर्माचार्यों ने इन्हें शैतान की करामात माना। अतः टेरेसा को पुनः भीषण अन्तर्द्वन्द्व का सामना करना पड़ा। आन्तरिक तनाव के इस समय में आलाकेन्टा

के सन्त पीटर ने टेरेसा को सही मार्गदर्शन प्रदान किया।

प्रायः देखने में आता है कि महान् धर्म-प्रचारक एवं सन्त आध्यात्मिक जीवन में लक्ष्य-प्राप्ति के बाद ही सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। टेरेसा ने भी अतीन्द्रिय जगत् में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित होने के बाद ही ईश्वर के आदेशानुसार कर्मक्षेत्र में कदम रखा। उन्होंने मठों में भिक्षुओं-भिक्षुणियों द्वारा व्यतीत किये जा रहे जीवन के स्तर में पतन का अनुभव किया। उन्होंने देखा कि नियम-पालन में ढील आ गयी है और मठों में बाहरी तत्त्वों का हस्तक्षेप होने लगा है। अतः उन्होंने अपने ही संघ के सुधार के निमित्त प्रभु-प्रेरणा से प्रेरित हो अपनी कुछ अनुयायियों के साथ 'कान्वेन्ट ऑफ सेंट जोसेफ' की स्थापना की जहाँ भिक्षुणी संघ के आधारभूत सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन हो सके। इस नवीन प्रयास का उन्हीं की सहयोगी भिक्षुणियों, सम्भ्रान्त नागरिकों, स्थानीय अधिकारियों और जनसाधारण द्वारा भयानक विरोध हुआ। ईश्वर में अटूट विश्वास और स्वतः के भरसक प्रयत्न के द्वारा ही वे इस विरोध का सामना करने में सफल हुईं और कान्वेन्ट की स्थापना के लिये पोप की अनुमति प्राप्त कर सकीं। संशोधित नियमावली के आधार पर उन्होंने अपने जीवनकाल में सोलह कान्वेन्टों की स्थापना की। इस प्रयास में उन्हें अथक शारीरिक परिश्रम करना पड़ा। उन्हें तपती धूप, कड़कड़ाती ठंड और बरसते पानी में दुर्गम मार्गों पर

असुविधाजनक वाहनों में यात्रा करनी पड़ती थी। नये मठों को स्थापना भी कठिनाइयों से भरी होती थी। कई संस्थानों में अर्थाभाव के कारण भिक्षुणियों को भिक्षा से गुजारा करना पड़ता था। इसके विपरीत, जिन मठों में पर्याप्त धन होता था, वहाँ पैसे-कौड़ी का झगड़ा, कानूनी झंझटें आदि खड़ी हो जाया करती थीं। टेरेसा के आदर्शों से प्रेरित होकर सन्त जान ऑफ क्रास ने पुरुषों के लिये इसी प्रकार के कठोर नियमों पर आधारित चौदह मठों की स्थापना की थी।

टेरेसा द्वारा स्थापित संघ में प्रवेश करने वाली भिक्षुणी को जिस नियमावली का पालन करना पड़ता था, वह अति कठोर अपरिग्रह का विधान करता था। भिक्षुणी को धनसंग्रह का निषेध था। मोटे कपड़े का एक अँगरखा, चप्पल और घास का बना बिस्तर—यही उनकी सम्पत्ति होती थी। संसार से उनका सम्बन्ध पूर्णतया कट जाता था। एक बार कान्वेन्ट में दाखिल होने के बाद वे कभी वाहर नहीं निकलती थीं। टेरेसा नियम की कठोर थीं, किन्तु उनके हँसमुख स्वभाव के कारण उनकी कठोरता अखरती नहीं थी। वे भिक्षुणियों में हँसने, खाने और सोने की आदतों को बुरा नहीं मानती थीं। कारण यह कि हँसने वाली भिक्षुणी स्वयं प्रसन्न रहेगी और दूसरों की उदासी को दूर कर सकेगी। खाने में रुचि स्वस्थ शरीर की द्योतक है, और जिसका मन कुण्ठाओं और विकारों के बोझ से भारी न

हो वही निश्चिन्त होकर सो सकता है।

टेरेसा कठोर तपस्या की आड़ में भिक्षुणियों को नित्य प्रति के कार्यों की अवहेलना नहीं करने देती थीं। वे कहा करती थीं, "परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है। वह मटकों और बर्तनों में भी है। जब तुम्हारा कर्त्तव्य तुम्हें घरेलू कार्यों के लिये प्रेरित करता है, तब भगवान् भी तुम्हारी सहायता के लिए वहाँ पहुँच जाता है।" वे भावुक की अपेक्षा बुद्धिमती भिक्षुणियों को अधिक पसन्द करती थीं, क्योंकि कुशाग्र बुद्धि वाला व्यक्ति सरल और उदार भी होता है; वह अपनी त्रुटियों को पह-चानकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। जो बुद्धिमान नहीं है, वह कभी भी ठीक-ठीक निर्णय नहीं ले सकता है। निरन्तर भगवच्चिन्तन में लीन रहने पर भी टेरेसा अत्यन्त व्यवहार-कुशल थीं। वे रसोई बनाना, कपड़े धोना आदि छोटे-छोटे कामों में निपुण थीं और उनकी स्वच्छता अद्वितीय थी।

अन्त-अन्त में टेरेसा को कुछ सिद्धियाँ भी प्राप्त हुई थीं। वे भविष्य की बातों को जान लेती थीं और दूसरे के विचारों को पढ़ लेती थीं। कहा जाता है कि एक बार एक बालक को, जो दीवार के नीचे दबने से मृत हो गया था, टेरेसा ने अपने हाथों में ले, ईश्वर से प्रार्थना कर जीवनदान दिया था। अपने गिरते स्वास्थ्य की उपेक्षा कर वे जीवन के अन्तिम समय तक प्रचार-कार्य के लिये कष्टप्रद यात्राएँ करती रहीं। १५ अक्तू-

वर १५८२ ई० को अड़सठ वर्ष की आयु में वे अपने आराध्यदेव में लीन हो गयीं। उनके अन्तिम शब्द थे– "प्रियतम ! जिस क्षण की मैं इतनी आतुरता से प्रतीक्षा कर रही थी वह आखिर आ ही गया। अब मेरी आत्मा इस कारावास से मुक्त हो तेरे साथ निवास करेगी।"

सन्त टेरेसा के पत्र एवं कन्फेसर की आज्ञा से उनके द्वारा रचित साहित्य तीन खंडों में उपलब्ध है। ये रचनाएँ उनकी शिष्या भिक्षुणियों को सम्बोधित होने के फलस्वरूप अत्यन्त सरल एवं घरेलू शैली में लिखी गयी हैं। 'आत्मकथा' एवं 'आभ्यन्तरिक महल' (Interior Castle) नामक रचना में टेरेसा ने अपनो आध्यात्मिक यात्रा का वर्णन किया है तथा साधक के अनुभवों को विभिन्न रूपकों के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया है। साधक की आन्तरिक अनुभूतियों का वर्णन बड़ा सजीव है। 'आभ्यन्तरिक महल' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में साधक की यात्रा की उपमा एक महल के भीतर प्रवेश से दी गयी है जिसमें सात कक्ष हैं। बाहरी कक्ष अन्धकार युक्त है और इसमें काम, क्रोधादि जहरीले पशुओं का पदचारण होता रहता है। जैसे जैसे साधक अन्दर प्रवेश करता है, अन्तिम कक्ष का प्रकाश अधिकाधिक प्रकट होने लगता है। प्रारम्भिक अवस्था में विनम्रता एवं आन्तरिक प्रार्थना की आवश्यकता है। धीरे-धीरे ईश्वर के प्रति तीव्र अनुराग का उदय होता है। जैसे जैसे साधक भीतर के कक्षों में प्रवेश करता है, उसका स्वतः

का प्रयास कम होता जाता है और ईश्वर उसका भार स्वयं लेने लगता है । सातवें और अन्तिम कक्ष की अवस्था को वे 'आत्मा का परमात्मा से विवाह' की संज्ञा देती हैं ।

टेरेसा की शिक्षा का सार है विनम्रता और ईश्वर-समर्पण । जब तक तुम अपने आप को सबसे तुच्छ नहीं समझते हो, तब तक यह निश्चित जानो कि तुमने पूर्णता की दिशा में प्रगति नहीं की है । टेरेसा का सारा साहित्य मार्मिक और हृदयग्राही है तथा सच्चे साधकों के लिये उपयोगी और प्रेरणास्पद वाक्यों से ओतप्रोत है ।

●

पतितपावन प्रभु श्रीरामकृष्ण देव और गिरीश घोष

कु. अजिता चटर्जी

मद्यपान किया है नाटककार गिरीश ने—थोड़ी बहुत मात्रा में नहीं; इतनी अधिक मात्रा में कि वेश्याएँ तक दरवाजा खोलने को राजी नहीं होतीं। अचानक दक्षिणेश्वर की याद आ गयी उन्हें। सोचने लगे—वहाँ तो एक ऐसे परम आत्मीय बैठे हुए हैं जो कभी किसी को विमुख नहीं करते। फिर क्या था, चल पड़े दक्षिणेश्वर की ओर।

रात्रि के १—१॥ बज रहे होंगे। चारों ओर निस्तब्धता छायी हुई है। केवल कभी कभी कुछ कुत्तों के भोंकने की आवाज आती है। इस गम्भीर रात्रि में एक घोड़ागाड़ी आकर रुकती है दक्षिणेश्वर के मातृमन्दिर के सदर दरवाजे पर।

दरवाजा बन्द है। फिर भी क्या हुआ, रहने दो दरवाजे को बन्द, होने दो चारों ओर निस्तब्धता और गहरा अन्धकार। जिनकी नींद आर्तजनों, पतितजनों के आर्तनादों को सुनकर गायब हो गयी है, उन पतितपावन को पुकारने में भला क्या दोष?—सोचते हैं गिरीश घोष।

प्रभु ! प्रभु ! कहकर चिल्लाना शुरू कर देते हैं—जमीन पर लोटने लगते हैं—एक पागल की तरह। कौन उस समय उन्हें देखकर कहेगा कि ये ही प्रसिद्ध नाटक-

कार श्री गिरीशचन्द्र घोष हैं।

आवाज ठीक पहुँचती है पतितपावन के कानों तक। वे चौंक उठते हैं–कौन, गिरीश है न? निर्जन, निस्सहाय अन्धकार में मुझे कातर हो पुकार रहा है! कमरे में रहना उनके लिए असम्भव हो जाता है। निकल पड़ते हैं तेजी से और मतवाले का हाथ पकड़ अन्दर ले आते हैं।

गिरीश को शराबी कहकर उन्होंने कभी ठुकराया नहीं। वरन् आवश्यकता पड़ने पर शराब की व्यवस्था भी खुद कर देते हैं। कहते हैं–उसकी मुक्ति शराब में ही है; एक समय ऐसा आयेगा जब मद की जगह रहेगी मादकता। क्रोध की जगह रहेगा तेज। काम नहीं रहेगा, रहेगा प्रेम। लोभ की जगह रहेगी व्याकुलता।

इस तरह कुछ दिन बीत जाते हैं। गिरीश घोष में काफी परिवर्तन हो जाता है। वे अब पहले के गिरीश घोष नहीं रह जाते।

एक दिन फिर वे दक्षिणेश्वर आ उपस्थित होते हैं। ठाकुर दक्षिण के बरामदे में बैठे हुए हैं। गिरीश को देखते ही अपने पास बुला लेते हैं। गिरीश भी अत्यन्त दीन-हीन भाव से उनके चरणों के पास बैठ जाते हैं।

गिरीश कहते हैं–मैं बड़ा पापी हूँ। ऐसा कोई भी पाप, दुष्कर्म नहीं है जो मुझसे अछूता गया हो।

करुणामय प्रभु हँसते हुए कहते हैं–ऐसा क्या रे? तूने इतना अधिक पाप किया है जिसे पतितपावन भी दूर नहीं कर सकते?

"नहीं प्रभु ! मैंने तो पाप का एक पहाड़ ही बना लिया है ।"

प्रभु हँसते हुए कहते हैं–तेरा यह पाप का पहाड़ तो कपास के ढेर जैसा ही है। एक बार माँ का नाम ले, फूँक मार–देख, कुछ भी नहीं रहेगा।

डूबते हुए को सहारा मिला। गिरीश ने पूछा–अब से मुझे क्या करना होगा ? मेरे लिये कोई उपाय बतलाइये ।

जवाब मिला अत्यन्त सहज एव सरल–"जो कर रहा है वही कर; पर देख, सुवह-शाम एक बार ईश्वर का स्मरण-मनन करना।"

चिन्ता में पड़ गये गिरीश। सोचने लगे. यह कैसा बन्धन। सबेरे कब नींद खुलती है इसका ठिकाना नहीं–शाम को या तो नाटक करना या और कहीं। स्मरण-मनन करने का मेरे पास समय कहाँ ? इतना सरल उपाय–केवल सुबह-शाम एक एक बार ईश्वर को याद करना–न आसन, न प्राणायाम, न पूजा। पर यह भी सम्भव नहीं। उनकी परिस्थिति वड़ी विकट हो गयी। न हाँ कहते बने और न नहीं करते बने। बेचारे गिरीश सिर नीचा किये बैठे रहे।

ठाकुर उनके मन की बात ताड़ गये। उन्होंने मिन्नत भरे स्वर में कहा–देख, यदि इतना तुझसे न हो सके तो केवल एक बार खाना खाने के पहले याद कर लिया कर।

फिर भी गिरीश निरुत्तर ही रहे। सोचने लगे–न

तो मेरे खाने का ठिकाना रहता है और न सोने का ही फिर उन्हें वचन देकर न कर सका तो, नहीं बाबा मुझसे यह भी न होगा . . . ।

गिरीश को निरुत्तर देख ठाकुर ने हंसते हुए कहा— "यदि यह भी तुझसे न हो सके तो मुझे बकलमा दे दे।"

इसका मतलब ?

मतलब सहज है—अब से गिरीश के लिए ठाकुर ही प्रार्थना करेंगे। उन्हें कुछ भी नहीं करना पड़ेगा। समस्त जिम्मेवारी पतितपावन ने अपने ऊपर ले ली।

इधर प्रभु को बकलमा दे गिरीश का चित हलका हो जाता है और वे खुशी खुशी घर लौटते हैं।

पर यह क्या ? बकलमा देकर उन्हें रिहाई कहाँ मिली ? वे तो और भी अधिक मजबूती से बँध गये।

हर समय, हर घड़ी सोच रहे हैं—ठाकुर की अहेतुक कृपा की बात। सोते समय, उठते समय, खाते समय यहाँ तक कि नींद में भी उनके मस्तिष्क में चल रही है प्रभु की अहेतुक कृपा की बात।

मन ही मन हँस पड़े गिरीश घोष। सोचने लगे यह उपाय तो अच्छा रहा प्रभु का ! बकलमा लेकर तो उन्होंने दुगने बन्धन में बाँध लिया है !

बकलमा देने के पीछे इतना रहस्य छिपा हुआ है— कौन जानता था उस समय ?

स्त्री की मृत्यु हुई। एकमात्र पुत्र की भी मृत्यु हो गयी; पर 'प्रभु ! तुमने यह क्या किया' ऐसा कहकर भी

रो नहीं सकते । उस विषम परिस्थिति में गिरीश ने अपने मन को अनेक प्रकार से समझाया—रे मन । किसमें तेरा मंगल और किसमें तेरा अमंगल होगा—यह तो तुझे नहीं मालूम । तूने तो अपना सब कुछ श्रीरामकृष्ण के चरणों में अर्पित कर दिया है—फिर तू क्यों विचलित हो रहा है। वे अपनी सम्पत्ति को, अपनी चीज को चाहे जिस किसी को भी दें, कुछ भी करें—उसमें तू बीच में बोलने वाला कौन होता है ? तूने तो अपनी खुशी से सब कुछ उन्हें सौंप दिया है । फिर से क्या वापस माँग लेगा ?

उसी क्षण गिरीश के मन से दुश्चिन्ता के बादल छँट गये और पतितपावन श्रीरामकृष्ण देव की मूर्ति आँखों के सामने छा गयी ।

आँखें मूँदे भाव में गदगद् हो गिरीश घोष कहने लगे– "प्रभु ! मैं तुम्हारा दासानुदास हूँ, फिर मुझे किस बात की चिन्ता ?"

●

कुर्मस्तारकचर्वणं त्रिभुवनमुत्पाटयामो बलात् ।
किं भो न विजानास्यस्मान् रामकृष्णदासा वयम् ।।

–हम तारों को अपने दाँतों से पीस सकते हैं, तीनों लोकों को बलपूर्वक उखाड़ सकते हैं । हमें नहीं जानते ? हम श्रीरामकृष्ण के दास हैं !

— स्वामी विवेकानन्द

दृष्टिकोण का भेद

संतोष कुमार झा

नैतिक जीवन आध्यात्मिक उपलब्धि का प्रथम सोपान है। बिना नैतिकता के अध्यात्म पथ पर तनिक भी नहीं बढ़ा जा सकता। आध्यात्मिक उन्नति एवं उपलब्धि के विना हमें स्थायी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। नैतिकता की परिणति पूर्णतः अन्तर्बाह्य शुचिता है। शुद्ध एवं पवित्र अन्तःकरण में ही स्थायी शान्ति का आविर्भाव होता है। स्वार्थ तथा वासनाओं से सर्वथा रहित होने पर ही अन्तःकरण शुद्ध होता है; तभी व्यक्ति शुचिता में प्रतिष्ठित हो पाता है।

हमारे जीवन में स्वेच्छा से लिया गया प्रत्येक निर्णय तथा स्वेच्छा से किया गया प्रत्येक कार्य हमारी नैतिकता की कसौटी है। इस प्रकार का प्रत्येक कार्य और विचार हमें नैतिक अथवा अनैतिक बनाता है। हमारे कर्मों के पीछे निहित उद्देश्य ही हमारी नैतिकता की सच्ची पहचान है। यदि कर्मों के पीछे हमारा उद्देश्य शुभ है तो हमारा आचरण भी शुद्ध होगा। और यदि कर्म के पार्श्व में हमारा उद्देश्य मलिन और अशुभ है तो ऊपर से शुद्ध दिखने वाला हमारा आचरण भी वस्तुतः अनैतिक एवं अशुभ होगा। अतः कर्मों के पीछे रहने वाला हमारा उद्देश्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह उद्देश्य ही चरित्र निर्माण में हमारा सहायक होता है। कई बार बाह्य

दृष्टि से देखने पर दो व्यक्तियों के कर्म एक समान प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके कर्मों के पीछे निहित उद्देश्यों के कारण उन व्यक्तियों के जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है।

देवगुरु बृहस्पति के मेधावी पुत्र कच ने दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। वह आश्रम में ही रहकर गुरु की सेवा तथा विद्याभ्यास किया करता। कच जैसे बुद्धिमान, शीलवान और परिश्रमी शिष्य को पाकर आचार्य प्रसन्न थे। वे उसे विशेष चेष्टा पूर्वक विद्याभ्यास कराते। शुक्राचार्य की एक लावण्यमयी सुशीला कन्या थी। उसका नाम था देवयानी। आचार्य का अपनी कन्या पर अगाध स्नेह था। गुरु की विशेष स्नेहपात्री होने के कारण देवयानी कच की भी स्नेह-भाजिका बन गयी। कच भाँति भाँति से गुरुपुत्री का मनोरंजन करता। वन से उसके लिए विविध प्रकार के फल-फूल आदि लाता। उसकें साथ खेलता। उसकी सुख-सुविधाओं का विशेष ध्यान रखता। देवयानी कच के व्यवहार से प्रसन्न तथा मुग्ध रहती। वह भी कच के कार्यों में यथासाध्य सहायता करती।

कच की शिक्षा समाप्त हुई। वह दुर्लभ विद्या का निष्णात अधिकारी हो गया। गुरुदेव ने उसे अपने घर जाने की अनुमति दे दी। कच ने आश्रम के सभी सह-योगियों और निवासियों से भेंट कर विदा ली। किन्तु देवयानी उसे कहीं दिखाई न पड़ी। उससे विदा लेने के

लिए वह उसे ढूँढने लगा। उसने देखा कि आश्रम से थोड़ी दूर एक एकान्त कुंज में देवयानी अकेली ही खड़ी है। कच को कुछ आश्चर्य हुआ वहाँ पहुँचकर उसने देवयानी से पूछा, "तुम यहाँ एकान्त में क्यों खड़ी हो ? मैं तो तुम्हें आश्रम में ढूँढ रहा था। गुरुदेव ने कृपापूर्वक मुझे घर लौट जाने की अनुमति दे दी है। मेरी शिक्षा पूर्ण हो गयी है। अब मैं अपने घर लौट रहा हूँ। मैंने सभी आश्रमवासियों से विदा ले ली है तथा अब तुमसे विदा लेने आया हूँ। मुझे विदा दो और मेरे योग्य कोई सेवा हो तो कहो।"

देवयानी ने कहा, "ब्राह्मणकुमार ! इस एकान्त कुंज में मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रही थी। मैं यह पहले ही जानती थी कि पिताजी ने तुम्हें घर लौट जाने की अनुमति दे दी है। किन्तु मैं तुमसे कुछ निवेदन करना चाहती हूँ। इसीलिए यहाँ एकान्त में तुम्हारी बाट जोह रही थी। मैं जानती थी कि तुम मुझसे भेंट किये बिना नहीं जाओगे।"

कच ने कहा, "देवयानी ! तुम मेरी गुरुपुत्री हो, तुमसे विदा लिये बिना भला मैं कैसे घर जा सकता था ? तुम्हारी प्रसन्नता में श्री गुरुदेव की भी तो प्रसन्नता है। कहो, क्या कहना चाहती हो।"

देवयानी ने कहा, "कच ! तुम्हारी सेवा और सद्व्यवहार से मैं मुग्ध हूँ। मैं भी अब आजीवन तुम्हारी सेवा करना चाहती हूँ। तुम मुझे अपनी अर्धांगिनी के

रूप में स्वीकार कर लो।"

देवयानी का प्रस्ताव सुनकर कच अवाक् रह गया। उसे स्वप्न में भी देवयानी से इस प्रकार के व्यवहार की आशा नहीं थी। वह उसकी गुरुपुत्री थी। गुरुपुत्री सहोदरी तुल्य होती है। कच ने सदैव ही उसे उसी दृष्टि से देखा था। अपनी छोटी बहन समझकर ही उसने देवयानी की सेवा की थी, उसका लाड़प्यार किया था, उसका मनोरंजन किया था, उसके प्रति मधुर स्नेहपूर्ण व्यवहार रखा था। कच का मन निर्मल और पवित्र था। देवयानी को सहोदरी के अतिरिक्त अन्य किसी भी दृष्टि से देखना उसके लिए अशक्य था। उसने कहा, "देवयानी! यह तुम क्या कह रही हो? तुम तो मेरी गुरुपुत्री हो। गुरुपुत्री पूज्या होती है। धर्मानुसार तुम मेरी सहोदरी भगिनी हो। तुम्हारे मुँह से इस प्रकार का अनुचित प्रस्ताव शोभा नहीं देता। तुम्हें मुझे सहोदर भ्राता की दृष्टि से ही देखना चाहिए।"

देवयानी ने सरोष कहा, "कच! मुझे तुम्हारे आदर्श और उपदेश नहीं चाहिए। मैं तुमसे प्रेम करती हूँ। बोलो, तुम मुझे स्वीकार करते हो या नहीं? यदि नहीं तो मैं तुम्हें शाप दूँगी कि पिताजी द्वारा प्राप्त संजीवनी विद्या तुम्हारे द्वारा प्रयोग किये जाने पर निष्फल हो जायगी।"

कच ने शान्त भाव से कहा, "देवयानी! मैंने हृदय से तुम्हें सहोदरी माना है। मेरी विद्या के निष्फल होने

का शाप क्या, यदि तुम मेरा शिरच्छेदन भी करवा दो तो भी मैं तुम्हें अन्य दृष्टि से नहीं देख सकता। मेरे हृदय की पवित्रता ही मेरी वास्तविक शिक्षा है, मेरे विद्याभ्यास की उपलब्धि है। उसे मुझसे कोई नहीं छीन सकता ?”

कच ने अत्यन्त कठोर परिश्रमपूर्वक प्राप्त अपनी जीवन साधना की उपलब्धि संजीवनी विद्या को भी अपने आदर्श और अंतःकरण की पवित्रता के लिए त्याग दिया ।

हिन्दू मनीषियों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने मानव जीवन को केवल भौतिक दृष्टिकोण से ही नहीं देखा, किन्तु उसके मानसिक तथा आध्यात्मिक पक्ष पर भी विचार कर शोध किया और जीवन के वास्तविक सत्य स्वरूप की उपलब्धि की। इस उपलब्धि के आधार पर उन्होंने जीवन को पूर्णता प्रदान करने वाली जीवन योजना की रचना की। शरीर से ऊपर उठते ही हमारी प्रमुख समस्या है हमारा 'मन'। मन के समुचित प्रशिक्षण और शोधन द्वारा ही जीवन में पूर्णता की प्राप्ति सम्भव है। इसके प्रशिक्षण में यौनवृत्ति एक जटिल समस्या है। इस समस्या का समुचित निराकरण कर लेने पर जीवन संग्राम में आधी सफलता मिल जाती है। यौन-वृत्ति का सहसा विनाश या दमन नहीं किया जा सकता। किन्तु उदात्तीकरण द्वारा उसका शोध कर यथासमय मन को निर्मल बनाया जा सकता है।

यौनवृत्ति के उदात्तीकरण एवं शोध के लिए परस्पर विपरीत लिंगी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा एवं पूज्य भावना

अथवा पवित्र निर्हेतुक स्नेह की भावना बड़ी ही सहायक सिद्ध होती है। इसके लिए हमें अपने मन के सम्मुख उस व्यक्ति का श्रद्धापूत, पूज्य बुद्धियुक्त अथवा पवित्र निर्हेतुक स्नेहपूर्ण चित्र रखना होता है। इस मानसिक चित्र के अनुसार उस व्यक्ति के प्रति अपने बाह्य व्यवहारों का नियंत्रण, संयोजन एव परिमार्जन करना पड़ता है। तथापि, व्यक्ति के प्रति हमारी भावना, हमारा दृष्टिकोण ही प्रमुख बात है। बाह्य व्यवहार द्वितीय स्थान रखता है। कच के मन में देवयानी के प्रति सहोदरी का शुद्ध भाव था। गुरुपुत्री होने के कारण उसके प्रति पूज्य बुद्धि भी थी। यही कारण है कि देवयानी के सम्पर्क से जहाँ एक ओर कच की चित्तशुद्धि हुई, उसका अंतःकरण पवित्र हुआ, वहाँ दूसरी ओर भावना शुद्धि न होने के कारण दृष्टिकोण में भेद होने के कारण, देवयानी के मन में उसी व्यवहार का विपरीत परिणाम हुआ और वह वासना- जनित तथाकथित प्रेम की ओर प्रवृत्त हो आदर्शच्युत हो गयी।

अतः चरित्रगठन के पथ पर चलने वाले प्रत्येक पथिक का यह कर्त्तव्य है कि जब कभी, जहाँ कहीं उसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति से हो तो तुरन्त ही उसे अपने मन भावनाओं की ओर दृष्टि डालकर आत्म निरीक्षण कर लेना चाहिए। तदनुसार अपनी भावनाओं का परिमार्जन कर, दृष्टिकोण को सदैव पवित्र ही बनाये रखने का प्रयास करना चाहिए। यह साधना साधक को आदर्श की ओर सतत अग्रसर कराती रहती है।

●

करुणा

घनश्याम श्रीवास्तव 'घन'

करुणा मनुष्य का दैवी गुण है। यह चित्त की कोमलतम वृत्ति है और मानस की अन्तरतम भूमि से उद्भूत होती है। दया इसी का दूसरा नाम है। विद्वज्जन दया को धर्म का मूल कहते हैं। जिस प्रकार मूल पर वृक्ष का अस्तित्व निर्भर रहता है उसी प्रकार दया पर धर्म की भित्ति खड़ी है। जहाँ करुणा होती है वहीं धर्म फूलता-फलता है। 'न तृष्णाया: परो व्याधिर्न च धर्मो दया समः।' तृष्णा के समान दूसरा रोग और दया के समान दूसरा धर्म नहीं है। यह शास्त्र का वचन है।

करुणाशील व्यक्ति अत्यन्त उदार होता है। उसकी संवेदना शक्ति बड़ी प्रबल होती है। उसका अन्तःकरण सर्व-जीव-कल्याण की भावना से सदा ओत-प्रोत रहता है। दूसरे का साधारण सा भी दुःख देखकर वह व्याकुल हो उठता है। स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरे का उपकार करने में वह संकोच नहीं करता। यही उसके व्यक्तित्व की महानता है। दयालु व्यक्ति का प्रभाव-क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है। अन्य प्राणी के हृदय पर उसकी दया-लुता की अमिट छाप पड़ती है। वैयक्तिक और सामा-जिक उन्नति में दया का प्रयोग एक विशिष्ट स्थान रखता है।

जिस पुरुष में करुणा है वही दूसरे के हृदय का मर्म जानने में समर्थ हो सकता है। दुखी व्यक्ति की समुचित

सहायता कर वह आत्म-प्रफुल्लता का अनुभव करता है। उसका हृदय अत्यन्त विशाल और अन्तर्दृष्टि सूक्ष्म होती है। उसकी स्नेहिल और सहानुभूतिपूर्ण भावना लोगों के मन को जीत लेती है और वह सबका आकर्षण केन्द्र बन जाता है। वह एक ऐसा सरोबर है जो कभी सूखता नहीं और जिसका जल पीकर सभी तृप्ति लाभ करते हैं। दयालु मनुष्य का जीवन निःस्पृह और उन्मुक्त होता है। उसके आचरण में दान की प्रधानता रहती है और स्वभाव से वह निरभिमानी एवं विनम्र होता है। किसी को कुछ देकर वह परम सन्तोष का अनुभव करता है। स्वार्थी और आत्मसंकीर्ण प्राणी तो निरादार और घृणा का ही पात्र होता है।

करुणा दान की जननी है। दान से आत्म विकास होता है। तेज की संवृद्धि होती है। मनुष्य देने के लिए जन्म लेता है, लेने के लिए नहीं। जब उसके पास देने के लिए अपना कुछ नहीं रह जायगा तभी वह संसार-बन्धन से मुक्त होगा। यह ध्रुव नियम है। जीवन का अर्थ भोग–विषयों का रसास्वादन नहीं बल्कि दान और त्याग है। त्याग ही मानव का सर्वोच्च आदर्श है। मनुष्य को जीवन-व्यवहार में दान और त्याग का अभ्यास करना चाहिए।

करुणा वह दीपक है जिसके प्रकाश में समस्त सद्-गुण स्वयमेव दिखने लगते हैं। जिस प्रकार पुष्प खिल जाने पर अपनी सुगन्ध नहीं छिपा सकता, उसी प्रकार

करुणाशील व्यक्ति की महिमा प्रकट होकर सर्वत्र छा जाती है । करुणा मानव धर्म की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है ।

अवतारी पुरुष करुणा का महाभाव लेकर पृथ्वी पर उतरते हैं । उनके जीवनकाल में ऐसे अनेकों घटनाचक्र उपस्थित होते हैं जिनमें करुणा की धारा उद्दाम वेग से प्रवाहित होती देखी जाती है । इसी के बल पर तो वे लोकोद्धार और युग-प्रवर्तन का कार्य करते हैं । वे लोग ईश्वर के सगुण साकार रूप हैं । मानों ईश्वर साक्षात् नरदेह धारण कर जीवों पर दया करने के लिए आविर्भूत होते हैं ।

'स एवं करुणा सिन्धुः भगवान् भक्तवत्सलः ।'

—नारद पंचरात्र ।

भक्त वत्सल भगवान् निराकार होकर भी करुणा के सागर हैं । उनकी करुणा कितनी अपार है ! प्रभु की दया से ही यह सृष्टिरूपी ब्रह्मचक्र चल रहा है । सृष्टि के प्राणियों के लिए उन्होंने सूर्य-चन्द्र, आकाश-पृथ्वी, अग्नि-वायु और जल-ओषधि का निर्माण किया । माता के गर्भ में गर्भस्थ शिशु की रक्षा के लिए सारी व्यवस्था की । प्रसव के लिए पूर्व ही माता के स्तनों को दुग्धपूरित किया ताकि गर्भ से वाहर आने के पश्चात् उस अशक्त शिशु को जीवन-धारण के लिए आहार मिल सके । धीरे–धीरे उसे वलिष्ठ शरीर, इन्द्रियशक्ति और बुद्धि-विवेक देकर जीवन-सुख भोगने के योग्य

बनाया। इहलौकिक सुखों से श्रेष्ठतर पारलौकिक सुख और श्रेष्ठतम मोक्ष की प्राप्ति के लिए ऋषियों के माध्यम से धरती पर वेद-गंगा की पावन धारा वहायी। कैसा अलौकिक प्रबन्ध है उस जगत्पिता का! क्या नहीं किया उस परम दयालु श्री भगवान् ने अपनी सन्तानों के लिए। करुणा का ऐसा ज्वलन्त रूप अन्यत्र कहाँ तक मिल सकता है?

धन्य है उस दयामय प्रभु की लीला!

●

लेखक परिचय

- श्री कनक तिवारी, एम. ए. रायपुर के शासकीय स्नातकोत्तर विज्ञान महाविद्यालय में अंग्रेजी विभाग में प्राध्यापक हैं।
- डा. प्रणव कुमार बनर्जी, बिलासपुर के होमियोपैथिक कालेज में प्राध्यापक हैं।
- कुमारी अजिता चटर्जी, एम. एस सी, चिरीमिरी (सरगुजा) स्थित लाहिड़ी उपाधि महाविद्यालय में रसायन विभाग में प्राध्यापिका हैं।
- श्री घनश्याम श्रीवास्तव 'घन', भिलाई इस्पात कारखाने में कर्मचारी हैं।

प्रश्न— आजकल चिकित्सा के क्षेत्र में कुछ चिकित्सक सम्मोहन (हिप्नॉटिज्म) का सहारा लेने की सलाह देते हैं। इस पर आपकी क्या राय है?

—डा. भवानीशंकर, इलाहाबाद

उत्तर— सम्मोहन मेरा विशेष क्षेत्र नहीं है, अतः साधिकार उस पर कुछ कहना कठिन है। तथापि सिद्धान्तः इतना तो कहा ही जा सकता है कि जो व्यक्ति बार बार अपने ऊपर सम्मोहन कराता है उसका मन दुर्बल हो जाता है और इच्छाशक्ति कमजोर पड़ जाती है। यदि चिकित्सक ऐसा कहें कि किसी जीवन की रक्षा या मर्मान्तिक पीड़ा को कम करने के लिये सम्मोहन के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है, तब तो बात ठीक है और ऐसी विशेष परिस्थितियों में सम्मोहन का प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु छोटी छोटी बातों के लिये यथा वजन कम करने या धूम्रपान की आदत रोकने के लिये सम्मोहन का सहारा लेना ठीक नहीं दिखता।

आजकल चिकित्सक भी सम्मोहन से पैदा होने वाले खतरों के प्रति सजग हो रहे हैं। कुछ समय पूर्व एक चिकित्सक ने लेख प्रकाशित किया था कि किस प्रकार एक रोगी, जिस

पर सम्मोहन का प्रयोग करके उसके रोग को दूर किया गया, एक उससे भी अधिक रोग से आक्रान्त हो गया। उस रोगी को नाखून कुतरते रहने की खराब आदत थी। वह उस आदत को छुड़वाने हिपनाटिस्ट के पास गया। वह रोग तो दूर हुआ पर उससे बदतर रोग उसे लग गया। जब सम्मोहन से यह दूसरा रोग दूर किया गया तो एक और भी खराब तीसरा रोग उसे लग गया। इस प्रकार करते करते वह शराब और नशीली दवाइयाँ खाने का आदी हो गया। तब चिकित्सक ने उस पर सम्मोहन का प्रयोग करना रोक दिया, क्योंकि उसे डर लगने लगा कि इसके बाद कहीं रोगी आत्महत्या करने पर मत उतारू हो जाय।

प्रश्न– हिन्दू धर्म का आक्रामक न होना ही क्या उसके पतन का कारण नहीं है ?

उत्तर– नहीं, उसके पतन के अन्य कारण हैं। आक्रामक होने से ही धर्म फूलते-फलते नहीं। भले आज की परिस्थिति में ऐसा लगे कि जो भी धर्म आक्रामक हैं, वे फैल रहे हैं; तथापि वास्तव में वस्तुस्थिति वैसी नहीं हैं। आक्रामक धर्म प्रलोभन और भय के बल पर ही विस्तार-लाभ करते हैं। उनका सम्बन्ध मनुष्य की बुद्धि और विवेक से नहीं होता। यही कारण है कि जैसे जैसे मनुष्य का चिन्तन सूक्ष्म होता है, वह अपने परम्परागत आक्रामक धर्म को अपने अनुकूल नहीं पाता।

विश्लेषण करके देखें कि हिन्दू धर्म, वर्तमान पतनावस्था के बावजूद, आज तक कैसे खड़ा रह पाया है। वह न तो प्रलोभन देता है, न भय दिखलाता है, तथापि आज लगभग दस हजार वर्ष से उसकी प्राणदायी विचारधारा प्रवाहित हो रही है। इसका कारण क्या है ? उसकी ऐसी अक्षुण्ण शक्ति

का उत्स कहाँ है ?

एक बात और। इतिहास बतलाता है कि प्रलोभन या भय के आधार पर ही आक्रामक धर्मों का विस्तार होता रहा है। ऐसी घटनाएँ अत्यन्त विरल हैं जबकि अन्य धर्मावलम्बियों ने, या विशेषकर हिन्दुओं ने, इसलिये धर्म-परिवर्तन किया हो कि वे उस धर्म विशेष से आध्यात्मिक तृप्ति प्राप्त करते हों। धर्म-परिवर्तन का कारण सदैव या तो प्रलोभन रहा है या फिर तलवार। दूसरी ओर, स्वेच्छया हिन्दू धर्म को अंगीकार करने वाले अन्य धर्मावलम्बियों की संख्या नगण्य नहीं है।

इसका क्या कारण है ? यही कि हिन्दू धर्म की अपील सार्वभौमिक और सार्वकालिक है। इसलिए हम हिन्दू धर्म को सनातन धर्म कहते हैं। वह मानव की आत्मा पर आधारित होने के कारण, आत्मा के ही समान अनन्त और शाश्वत है और मानव मात्र के लिये उपादेय है। इस सनातन धर्म का आशय 'योग' और 'वेदान्त' इन शब्दों द्वारा प्रकट होता है। यदि 'योग' और 'वेदान्त' की सही जानकारी लोगों के सामने रखी जाय, तो अन्य धर्मावलम्बी भी इसे अपने लिए ग्राह्य मानते हैं।

हिन्दू धर्म के पतन का कारण यह हुआ कि यह अनगिनत सम्प्रदायों में बँट गया और ये सम्प्रदाय परस्पर एक दूसरे का ही विरोध करने लग गये। जब तक हिन्दू धर्म पुनः योग और वेदान्त की पीठिका पर प्रतिष्ठित नहीं होता है, तब तक उसमें क्रियाशीलता और गति नहीं आ पाएगी। विभिन्न प्रकार के क्रिया अनुष्ठान प्रारम्भिक स्थिति में भले मनुष्य को कुछ सहायता प्रदान करते हों, पर यदि उन पर जोर दिया गया तो वे बुद्धि को कुण्ठित कर देते हैं और विचारशक्ति एक तंग दायरे

में बँध कर कट्टर और तअस्सुबी हो जाती है। इसी से आक्रा-मक धर्मों का जन्म होता है। आक्रामक धर्मों का वास्तविक उद्देश्य आध्यात्मिक समाधान की अपेक्षा राजनैतिक ही अधिक होता है।

हिन्दू धर्म पुनः उठेगा और उठ रहा है। जितनी तीव्रता से उसके उदात्त विचारों को फैलाने की कोशिश की जायेगी, उतना ही वह सबल और पुष्ट होगा। इसी में मानवमात्र का कल्याण निहित है। हिन्दू धर्म भी यदि प्रचलित अर्थों मे आक्रामक हो गया, तो संसार से 'धर्म' नाम की चीज ही खत्म हो जायेगी। पर यहाँ यह स्मरणीय है कि 'आक्रामक होना' और 'आक्रमण का सामना करना' दोनों एक और समानार्थी नहीं हैं। हिन्दू धर्म आक्रामक तो न हो, पर आक्रमण का अवश्य सामना करे। यह सही है कि आज हिन्दू धर्म में आक्रामण का सामना करने की शक्ति क्षीण हो गई है। स्वस्थ दृष्टिकोण इस शक्ति को पुनः बढ़ायेगा।

●

जो कुछ प्रकृति के विरुद्ध लड़ाई करता है वह चेतना है। उसमें ही चैतन्य का विकास है। यदि एक चींटी को मारने लगो तो देखोगे कि वह भी जीवन रक्षा के लिए एक बार लड़ाई करेगी। जहाँ चेष्टा या पुरुषकार है, जहाँ संग्राम है, वहीं जीवन का चिह्न और चैतन्य का प्रकाश हैं।

— स्वामी विवेकानन्द

आश्रम समाचार

(१ मार्च से ३० जून १९६९ तक)

साप्ताहिक सत्संग

रविवासरीय गीता प्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने आलोच्य अवधि में ९, २३ मार्च एवं १३, २० और २७ अप्रैल को गीता पर प्रवचन किया। इस प्रकार वे अब तक गीता पर कुल ६१ प्रवचन कर चुके हैं। गीता के दूसरे अध्याय के ५३ वें श्लोक तक चर्चा हो पायी है।

२, १६, ३० मार्च एवं २ अप्रैल को श्री प्रेमचन्द जैन की रामायण-कथा हुई।

गुरुवासरीय सत्संग के अन्तर्गत ६, २७ मार्च एवं १७ अप्रैल को प्रा. देवेन्द्रकुमार वर्मा का 'हिन्दू धर्म' पर प्रवचन हुआ। वे अब तक १२ प्रवचन कर चुके हैं।

२० मार्च और १० अप्रैल को श्री सन्तोषकुमार झा का 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' पर ७ वाँ और ८ वाँ प्रवचन हुआ।

१३ मार्च और ३, २४ अप्रैल को डा. अशोककुमार बोरदिया ने 'पातंजल योगसूत्र' पर प्रवचन दिये। अबतक उनके १६ प्रवचन इस विषय पर हो चुके हैं।

२७ अप्रैल को इस सत्र का अन्तिम सत्संग हुआ। अब अगला सत्र गर्मियों के बाद रविवार ६ जुलाई से प्रारम्भ होगा।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम

३१ मार्च को श्री महावीर जयन्ती के उपलक्ष में सुप्रसिद्ध स्वामी सत्यभक्तजी का 'विश्वधर्म की रूपरेखा' इस विषय पर स्फूर्तिदायी भाषण हुआ।

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम

५ मार्च को स्वामीजी वैकुण्ठपुर (सरगुजा) में थे। वहाँ उन्होंने एस. सी. डी. सी. के अधिकारियों एवं अन्य नागरिकों को 'धर्म विज्ञान' विषय पर सम्बोधित किया। ९ मार्च को भिलाई स्थित श्रीरामकृष्ण सेवा मंडल द्वारा परिचालित विवेकानन्द अध्ययन वर्ग के तत्वावधान में 'मानव जीवन का प्रयोजन' पर चौथा व्याख्यान दिया। १४, १५ और १६ मार्च को स्वामी आत्मानन्द ने रांची स्थित रामकृष्ण मिशन केन्द्र के उत्सव में भाग लेते हुए 'विज्ञान के युग में धर्म का भविष्य' 'गीता प्रतिपादित कर्मयोग' तथा 'श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द' इन विषयों पर जनसभाओं को सम्बोधित किया।

२५ मार्च को इन्दौर के रामकृष्ण आश्रम में तथा २६ और २७ मार्च को झाबुआ स्थित रामकृष्ण आश्रम के वार्षिक उत्सव में सम्मिलित होते हुए, स्वामीजी ने इन्दौर में १ तथा झाबुआ में २ व्याख्यान दिये। २६ मार्च को जिलाध्यक्ष श्री कृपाशकर शर्मा की अध्यक्षता में स्वामीजी ने 'मानवजीवन का प्रयोजन' इस विषय पर चर्चा की। २७ मार्च को रामनवमी के के शुभ पर्व पर उन्होंने आश्रम के अन्तर्गत चलने वाले पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र के भवन का उद्घाटन किया। इस अवसर पर श्री महाराजा झाबुआ नरेश भी विशेष रूप से उपस्थित थे। उनकी अध्यक्षता में स्वामीजी ने अपना दूसरा व्याख्यान प्रदान किया।

२९ मार्च को स्वामीजी पटना में आयोजित विश्व हिन्दू धर्म सम्मेलन में आमंत्रित होकर उपस्थित हुए। वहाँ उन्होंने इस सम्मेलन के अन्तर्गत होने वाले 'योग-सम्मेलन' का उद्घाटन किया। ३० मार्च को पटना स्थित आश्रम में उन्होंने आमंत्रित

जनसमूह के समक्ष 'विज्ञान और धर्म' पर चर्चा की तथा उसी रात्रि वहाँ के विद्यार्थी भवन के विद्यार्थियों को 'विद्यार्थी क्या करें' इस विषय पर सम्बोधित किया। ३१ मार्च को योग-सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए योग-सिद्धान्त और व्यवहार' इस विषय पर उन्होंने विज्ञानसम्मत सारगर्भित भाषण देकर उपस्थित विशाल जनसमूह को मुग्ध कर दिया।

२ अप्रैल को स्वामीजी मेडिकल कालेज, बुरला (सम्बलपुर, उड़ीसा) के अतिथि थे। वहाँ उन्होंने 'गीता संसद' के तत्त्वावधान में आयोजित समारोह में 'गीता के सिद्धान्तों की वैज्ञानिक समीक्षा' विषय पर कालेज के लगभग १२०० छात्रों और अध्यापकों को सम्बोधित किया। उसी सन्ध्या उन्होंने प्रश्नोत्तर की भी कक्षा रखी जिसमें लगभग ७०० छात्रों और अध्यापकों ने भाग लिया। लगभग १ घन्टे तक स्वामीजी छात्रों और अध्यापकों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का यथोचित उत्तर देते रहे।

३ अप्रैल को स्वामी आत्मानन्द अमरावती (महाराष्ट्र) में थे। वहां ३, ४ और ५ अप्रैल को उन्होंने 'सर मोरोपंत जोशी मेमोरियल लेक्चर सीरीज' के अन्तर्गत 'गीता प्रतिपादित कर्मयोग', 'नारदीय भक्ति' और 'मानव जीवन का प्रयोजन' इन विषयों पर व्याख्यान दिया। २० अप्रैल को श्रीरामकृष्ण सेवा मंडल, भिलाई द्वारा संचालित विवेकानन्द अध्ययन वर्ग के तत्वावधान में स्वामीजी ने 'मानव-जीवन का प्रयोजन' पर पाँचवा व्याख्यान दिया और इस प्रकार पाँच व्याख्यानों में मानव-जीवन के प्रयोजन पर विभिन्न पहलुओं से विचार किया। भौतिकशास्त्र और जीवशास्त्र की तात्त्विक उपलब्धियों की तुलनात्मक चर्चा करते हुए स्वामीजी ने कहा कि मानव-जीवन का अर्थ वेदान्त के द्वारा समुचित रूप से स्पष्ट होता है।

वेदान्त ने जो लक्ष्य मानव-जीवन का निर्धारित किया है, वही आज क्रमशः विज्ञान की इन शाखाओं द्वारा अस्पष्ट शब्दों में पुष्ट हो रहा है। कुछ समय बाद यह अस्पष्ट स्वर सुस्पष्ट हो जायगा, क्योंकि वेदान्त की प्रवृत्ति सम्पूर्णतः वैज्ञानिक है।

२० मई को श्रीरामकृष्ण सेवा समिति, बिलासपुर के तत्त्वावधान में आयोजित जनसभा को स्वामीजी ने 'गीता-प्रतिपादित कर्मयोग' पर सम्बोधित किया। २७ और २८ मई को वे पचमढ़ी आमंत्रित थे। वहाँ के केन्टान्मेंट के अधिकारियों ने पचमढ़ी की जनता के सहयोग से यह कार्यक्रम आयोजित किया था। योगायोग से उसी समय मध्यप्रदेश शासन के शिक्षा विभाग विभिन्न बैठकें चल रही थी। उन बैठकों में भाग लेने वाले शिक्षा विभाग के मंत्रियों, अधिकारियों और प्रान्त के विभिन्न महाविद्यालयों के प्राचार्यों को भी इस अवसर का लाभ मिला। स्वामी आत्मानन्द ने ये दो दिन 'गीता की भूमिका' और 'गीता का कर्मयोग' इन विषयों पर व्याख्यान दिया। ३० मई को वे मण्डला में आमंत्रित थे जहाँ 'आफिसर्स क्लब' में उन्होंने 'विज्ञान और धर्म' पर वक्तृता दी उसी रात्रि उन्होंने स्थानीय विवेकानन्द शिला स्मारक समिति द्वारा आयोजित जनसभा को 'विवेकानन्द शिला' की महत्ता से अवगत कराया।

१ अप्रैल से ३० जून १९६९ तक की गतिविधियों की संक्षिप्त रिपोर्ट

१. विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय

एलोपैथिक विभाग— उपर्युक्त ३ माह की अवधि में कुल ९३६८ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी जिनमें ५५६ रोगी नये थे। इनमें ९५ रोगी क्रानिक उदररोग से पीड़ित थे। ४३६ रोगियों को निःशुल्क विभिन्न प्रकार के

इंजेक्शन और टीके लगाये गये तथा ५९ दन्त रोगियों के दाँत निकाले गये और उनका उपचार किया गया।

होमियोपैथी विभाग– इस विभाग द्वारा ३३४३ रोगियों का निःशुल्क उपचार किया गया, जिनमें ७८४ रोगी नये थे।

२. विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय और निःशुल्क वाचनालय

३० जून को ग्रन्थालय में १२४२० पुस्तकें थीं। उपर्युक्त अवधि में २८३० निर्गमित की गई। वाचनालय में ८१ पत्र-पत्रिकाएँ, दैनिक समाचार पत्र आदि थे। वाचनालय में आकर पढ़ने वालों की दैनिक औसत संख्या १२० थी।

३. विवेकानन्द विद्यार्थी भवन

आश्रम छात्रावास में ६० छात्र थे। अप्रैल में हुई परीक्षाओं का परीक्षाफल ८७% रहा। इनमें दो छात्र प्रथम श्रेणी में क्रमशः एम. एस. सी. और बी. ई. की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। एम. एससी. के छात्र ने मेरिट में तीसरा स्थान प्राप्त किया।

४. भवननिर्माण-कार्य

नये सभाभवन का निर्माण कार्य प्रगति पर है। ३० जून तक उस पर ३७२६२)५८ की राशि खर्च हो चुकी है। आलोच्य अवधि में कुल ११९०३) का दान विभिन्न उदारचेता व्यक्तियों से प्राप्त हुआ। राशि में कुछ वे भी राशियाँ शामिल हैं जो विगत जनवरी माह में हुए 'विवेकानन्द जयन्ती समारोह' के अवसर पर वचनदान के रूप में घोषित हुई थीं।

सभाभवन का निर्माणकार्य पूर्ण करने के लिये दानी व्यक्तियों का आर्थिक सहयोग अपेक्षित है।

●